सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 47
अंक : 8
नवम्बर 2014

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवांई- 283202 (आगरा) उ.प्र.

प्रकाशन तिथि - 01.11.2014

एक प्रति : रु. 20
वार्षिक - 160 रू

अमृत कण

चला लक्ष्मीश्चला: प्राणाश्चलं जीवित शैवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चल:।।

(चाणक्यनीति दर्पण)

अर्थात् इस चराचर जगत में लक्ष्मी (धन सम्पदा), प्राण यौवन और जीवन (आयु) – सब चलायमान और नश्वर हैं, केवल एक धर्म ही निश्चल और शाश्वत् है। जो सदा साथ रहता है और मृत्यु के बाद भी साथ जाता है। अत: सुख प्राप्ति के लिए हमें धर्म का आचरण करना चाहिये। पापाचरण कदापि नहीं।

◆ ◆ ◆

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च।।

(कठोपनिषद् 2/2/9)

अर्थात् जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ठ एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूपवाला सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

◆ ◆ ◆

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छाति।।

(गीता 5/29)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :— शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली "सिद्धयोग" नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 47 नवम्बर 2014 अंक : 8

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोकांरेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।।

ओंकार की एक मात्रा की उपासना से उपासक ऋचाओं द्वारा इस मनुष्य लोक में पहुँचाया जाता है। दूसरा दो मात्राओं की उपासना करने वाला यजुः श्रुतियों द्वारा अन्तरिक्ष में चन्द्रलोक तक पहुँचाया जाता है। पूर्णरूप से ओंकार की उपासना करने वाला सामश्रुतियों द्वारा उस ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। जिसको ज्ञानीजन जानते हैं। विवेक शील साधक केवल ओंकार रूप अवलम्बन के द्वारा ही उस परब्रह्म पुरुषोत्तम को पा लेता है, जो वह परम शान्त जरारहित मृत्युरहित, भयरहित और सर्वश्रेष्ठ है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1. विशेष लेख – *योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज* 3
2. सम्पादकीय 6
3. श्री मद्भागवत में योग परिचर्चा– *डॉ. विजय सिंह* 10
4. तस्मात् त्रय त्यजेत – *पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय* 14
5. साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर – *(श्री सद्गुरु देव जी द्वारा)* 17
6. निजानुभूतियाँ – *श्री महेन्द्र नारायण सिंह* 20
7. योग–आसन 23
8. आश्रम समाचार 24
9. परमात्मा–सत्ता की व्यापकता – *सुश्री प्रेमवती* 25
10. कर्म–फल–त्याग – *स्व. श्री साने गुरु* 31
11. शिवलीन अवधूत – *(श्री गुरुदेव के सौजन्य से)* 36

एक प्रति	: रु.	20.00
वार्षिक शुल्क	: रु.	160.00
द्विवार्षिक	: रु.	280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.	900.00

विशेष लेख

विवेकज ज्ञान की पराकाष्ठा

योग–योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने 'सिद्धयोग' के ग्यारहवें वर्ष के प्रथम अंक में योगी को विवेकज ज्ञान नामक लेख हमने भली प्रकार यह समझाने की चेष्टा की है कि विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार से आ करती है। साथ ही लेख में यह समझाया गया है कि क्षण और उसके क्रम में संयम करने से गी को विवेकज ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

किन्तु इसके अतिरिक्त विवेक ज्ञान में कई एक और भी व्यवधान है जो विवेकज ज्ञान एक प्रकार के अन्तराय ही हैं यह विवेकज ज्ञान को पराकाष्ठा पर नहीं पहुंचने देते। उन बकी निराकृति के लिए अन्तर्दृष्टा योगी जान लेता है कि यथावत् वस्तु क्या है? जाति, लक्षण, श आदि की एकता में किस प्रकार योगी अपने संयम के बल से यथार्थता को जान पाता है। इन ब बातों का उल्लेख भगवान पतंजलि जी ने निम्नांकित सूत्र में किया है–

जाति लक्षण देशैरन्यताऽनवच्छेदा तुल्ययोस्तुत: प्रतिपत्ति:।

– विभूति पाद 53

व्यासभाष्य–

तुल्ययोर्देश लक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतु: गौरियं वडवेयमिति, तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकर, कालाक्षी गौ: स्वस्तिमती गौरिति, द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षण सारूप्याद् देशभेदोऽन्यत्वकर इदम्पूर्वमिदमुत्तरमिति, यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्यज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति अविभागानुपपत्ति:, असादग्धेन च तत्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्ततत: प्रतिपत्ति: विवेकज ज्ञानात् इति कथम्–पूर्वामलक सहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षण देशाद्भिन्न:, ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने, अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति, एतेन द्रष्टान्ते न परमाणोस्तुल्य जातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षण साक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तौउत्तरस्य तद्देशानुभवोभिन्न:, सहक्षण भेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययोभवतीति, अपरे तु वर्णयन्ति–येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति, तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधि जाति भेदश्चान्यत्वेहेतु, भेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति, अत उक्तं मूर्तिव्यवधि जाति, भेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्, इति वार्षगण्य:।

अर्थात् जहाँ पर देश, जाति और लक्षण समान होते है वहाँ पर जाति भेद अन्यता अर्थात् भिन्नता को जानने का कारण होता है। जैसे–यह गौ है और यह घोड़ी है, गौ और घोड़ी

भिन्न–भिन्न जातियों के दो प्राणी हैं, इनका जाति–भेद इनकी भिन्नता को बतलाया है। किन्तु ऐसा होने पर भी जहां पर देश और जाति समान हों वहां पर लक्षणों से भेद को जाना जाता है। जैसे–वह गौ जिसके गले में कुछ चर्म भाग लटक गया है, चर्म भाग का इस प्रकार लटक जाना अन्य गौओं की उसकी भिन्नता का कारण है। इसी प्रकार से देश भेद भी भिन्नता को बतलाने का कारण हुआ करता है। जैसे एक स्थान पर दो आँवले रखे हों उनका रंग–रूप सब समान है किन्तु लाने वाला यह जानता है कि मैं इस आँवले को पूर्व देश से लाया हूँ और दूसरे आँवले को उत्तर देश से लाया हूँ। पूर्व और उत्तर का देश दोनों आँवलों की भिन्नता को बतलाने वाला है। किन्तु लाने वाला व्यक्ति भूल जाय और कोई पूर्व वाले आँवले को उत्तर वाले आंवले की जगह और उत्तर वाले आँवले को पूर्व वाले आँवले की जगह बदल दे तो उस समय सर्व साधारण इस बात को नहीं जान सकते कि कौन सा आँवला पूर्व देश का है और कौन सा आँवला उत्तर देश का है? ऐसी अवस्था में योगी का विवेकज ज्ञान ही उनकी यथार्थता को जानने का कारण बनेगा, क्योंकि उनकी उत्पत्ति काल के क्षण और क्रम जो हैं वह भिन्न–भिन्न हैं। उनके क्षणों और क्रमों के अन्दर संयम करने से योगी यह भली प्रकार जान जायेगा कि यह पूर्व दिशा का आंवला है और यह उत्तर दिशा का आंवला है, क्योंकि वह दोनों आँवले क्षण–क्रम और परमाणुओं के भेद से भिन्न–भिन्न तो हैं ही। इस तत्त्व को योगी की सूक्ष्म बुद्धि ही निर्णय कर सकती है। क्योंकि योगी के लिए भगवन पतंजलिदेव यह पहले ही कह चुके हैं कि 'परमाणु परम महत्वान्तस्य वशीकारः।' अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह परमाणु से लेकर के मूल प्रकृति पर्यन्त इसका अधिकार हो जाया करता है। इसी प्रकार विवेकज ज्ञान इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है कि योगी को संयम करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, प्रत्युत उसका मन संकल्प मात्र से अपने आप संयमित होने लगता है एवं विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति हो जाया करती है। इसी ज्ञान को फिर तारक ज्ञान कहने लग जाया करते हैं। भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग दर्शन में निम्नांकित सूत्र में स्पष्ट समझाया है –

तारकं सर्व विषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकज ज्ञानम्।

(विभूतिपाद 54)

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास–भाष्य–

तारकमिति–स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिक मित्यर्थः, सर्वविषयं = नास्य किंचिदविषयी भूतमित्यर्थः, सर्वथा विषयं = अतीतानागत प्रत्युपन्नं सर्वं सर्वथा जानातीत्यर्थः, अक्रममिति = एकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्, अस्यैवांशो योगप्रदीपः, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति।

अर्थात् तारक ज्ञान उसको कहते हैं जिसमें योगी को किसी भी विषय को संयम का लक्ष्य नहीं बनाना पड़ता, उसका ज्ञान संयमित सा ही रहता है, वह ज्ञान इस प्रकार का हुआ करता है जिससे भूत–भविष्य का कोई भी लक्ष्य उसका अविषय नहीं रहता। एक प्रकार से

पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ विवेकज ज्ञान ही तारक ज्ञान में बदल जाया करता है। तारक ज्ञान के उदय हो जाने पर योगी सभी कुछ जानने वाला बन जाया करता है। यह स्थिति इस प्रकार की होती है कि योगी के सामने किसी ने कोई विषय उपस्थित किया और सुनते ही उसने जान लिया। ऐसी स्थिति उपलब्ध होने पर योगी का लौकिकीय भाषा में अन्तर्यामी, जानीजान, घट-घटवासी आदि शब्दों का प्रयोग उसके लिए करने लग जाय करते हैं। यह स्थिति उपलब्ध हो जाने के बाद योगी का सत्व उत्तरोत्तर निर्मल हो जाया करता है और पुरुष अपने आपको केवल भाव में देखने लगता है।

सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्य कैवल्यमिति (विभूतिपाद 55)

व्यास-भाष्य-

यदा निर्द्धूतरजस्तमोमलं बुद्धि सत्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्यय मात्राधिकारं दग्धक्लेशबीज भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसाम्यरूपमिवापन्नं भवति, तदा पुरुष स्योपचरित भोगाभावः शुद्धिः, एतस्याम वस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा, विवेकज ज्ञान भागिन इतरस्य वा, न हि दग्धक्लेश बीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति, सत्वशुद्धि द्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्य्यं च ज्ञानन्चोपक्रान्तम्, परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः, चरिताधिकाराश्चैतस्याम वस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते, तत्पुरुषस्य कैवल्यम्, तदापुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति।

जब योगी के रज और तम के मल शान्त हो करके बुद्धि सत्व बिल्कुल निर्मल हो जाता है। क्लेश बीज दग्ध हो जाते हैं। दग्धबीजक्लेश होने पर गुणाधिकार समाप्त हो जाता है। तभी प्रकृति और पुरुष का शुद्धिसाम्य उपस्थित होता है। क्लेशबीज के दग्ध हो जाने पर कर्म-विपाक का अभाव हो जाता है, जन्म और मरण का चक्कर छूट जाता है। पुरुष अपने आप को बिल्कुल शुद्ध स्वरूप में देखने लगता है। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है। इसी का नाम केवली भाव है। विवेकज ज्ञान की पराकाष्ठा हो जाने पर तारक ज्ञान का उदय और प्रकृति पुरुष का शुद्धि साम्य रूपी निर्मल फल मिलते हैं जिससे योगी अपने आपको कृतार्थ बना लेता है।

जिसने एक बार असल मिश्रि का स्वाद चखा है, उसे क्या सस्ते गुड़ का स्वाद भाएगा ? जो एक बार ऊँची अटारी में सो चुका है, क्या उसे फिर गन्दी झोपड़ी में सोना अच्छा लगेगा ? इसी तरह जिसने एक बार ब्रह्मानन्द का स्वाद चखा है, वह क्या कभी तुच्छ विषयानन्द में रममाण हो सकेगा ?

- श्री रामकृष्ण परमहंस

श्री मद्वाल्मीकीय रामायण और योग

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

(गतांक से आगे)

देवी कौशल्या को कटी हुई कदली की भाँति अचेत अवस्था में भूमि पर पड़ी देख श्री राम ने हाथ का सहारा देकर उठाया। माता कौशल्या के समस्त अंगों में धूल लिपट गयी थी और अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त हो गई। उस अवस्था में श्री राम ने अपने हाथों से उनके अंगों की धूल पोंछी। वनवास के समाचार से दुःखी कौशल्या दुःख से कातर हो उठी और लक्ष्मण के सामने ही श्री राम से कहने लगी–बेटा राम! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे केवल इस बात का दुःख होता कि मैं बाँझ हूँ। किन्तु आज तो मुझे उस दुःख से भी ज्यादा दुःख मिल रहा है। मैं कभी भी सुखी नहीं रही। अब मैं सोचने लगी थी कि अपने पुत्र के राज्य में सब सुख देख लूँगी। इसी आशा में मैं अब तक जीती रही। मैंने हमेशा ही सौतों के कटु वचन सहे हैं। पुत्र तुम्हारे रहते हुये मैं सौतों से तिरस्कृत रही हूँ तुम्हारे वन में चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी ? उस दशा में मेरा मरण निश्चित है।

निम्न श्लोक पढ़िये –

त्वायं संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि।।

बेटा ! मुझे पति की ओर से सदा अत्यन्त तिरस्कार तथा फटकार ही मिली है। कभी प्यार व सम्मान नहीं मिला है। मैं कैकयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी गई बीती समझी जाती हूँ। बेटा ! इस दुर्गति में पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभाव के कारण कटु वचन बोलने वाली उस कैकयी के मुख को कैसे देख सकूँगी ? बेटा ! अब तू सत्ताईस वर्ष का हो गया है, अब तक मैं इसी आशा में जीती रही कि मेरा दुःख दूर हो जायेगा। राघव ! अब इस बुढ़ापे में इस तरह सौतों का तिरस्कार और उस से होने वाले महान अक्षय दुःख को मैं अधिक काल तक नहीं सह सकती। हे राम ! मैं समझती हूँ मेरा यह हृदय बड़ा कठोर है जो तुम्हारे वियोग की बात सुनकर भी वर्षा काल के नूतन जल के प्रवाह से टकराये हुये महानदी के कगार की भाँति फट नहीं जाता है। निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है। यमराज के घर में भी मेरे लिये जगह नहीं है तभी तो जैसे रोती हुई मृगी को जबरदस्ती उठा ले जाता है उसी तरह यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता। अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहे का बना हुआ है जो पृथ्वी पर पड़ने पर भी न तो फटता है और न ही टूक–टूक हो जाता है। इसी दुःख से व्याप्त हुये शरीर के भी टुकड़े–टुकड़े नहीं हो जाते हैं। निश्चय ही मृत्यु काल आये बिना किसी का मरण नहीं होता।

निम्न श्लोक देखिये –

स्थिरं हि नूनं ह्रदयं ममायसम्
न भिद्यते यद भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दु:खेन न देहमर्पितम्
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते।

देवी कौशल्या आगे फिर कहती है। सबसे बड़े दु:ख की बात तो यह है कि पुत्र के सुख के लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतान की हित कामना से जो तप किया था वह भी ऊसर में बोये हुये बीज की भाँति निष्फल हो गया। हे राम ! यदि कोई मनुष्य भारी दु:ख से पीड़ित हो असमय में ही अपनी इच्छा के अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़े से बिछुड़ी हुई गाय की भाँति आज ही यमराज की सभा में चली जाऊँ। हे राम ! चन्द्रमा के समान मनोहर मुख काँति वाले तुम्हारे बिना यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ ? बेटा ! जैसे गौ दुर्बल होने पर भी अपने बछड़े के लोभ में उसके पीछे–पीछे चली जाती है उसी प्रकार से मैं भी तुम्हारे साथ–साथ वन को चली चलूँगी। आने वाली भारी दु:ख को सहन करने में असमर्थ एवं महान कष्ट का विचार करके सत्य के ध्यान में बँधे हुये अपने पुत्र श्री राम को देखकर माता कौशल्या उस समय बहुत विलाप करने लगी मानो कोई किन्नरी अपने पुत्र को बंधन में पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो। इस प्रकार विलाप करती हुई कौशल्या को देखकर लक्ष्मण अत्यन्त दु:खी होकर कहने लगे – बड़ी माँ ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लग रहा है कि भाई श्री राम राज्य लक्ष्मी का परित्याग करके वन को जायें। महाराज तो इस समय स्त्री की बात में आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति विपरीत हो गई है। एक तो वे बूढ़े हैं दूसरे विषयों ने उन्हें वश में कर लिया है। अत: कामदेव के वशीभूत हुये ये नरेश कैकयी जैसी स्त्री की प्रेरणा से क्या नहीं करना चाहेंगे। मैं श्री रघुनाथ जी का ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता जिससे इन्हें राज्य से निकाला जाये और वन में रहने के लिये विवश किया जाये। धर्म पर दृष्टि रखने वाला कौन ऐसा राजा होगा जो देवता के समान, शुद्ध, सरल, जितेन्द्रिय और शत्रुओं पर भी स्नेह रखने वाले श्री राम जैसे पुत्र का अकारण त्याग करेगा ? रघुनन्दन! जब तक कोई भी मनुष्य आपके वनवास की बात को नहीं जानता है तब तक आप मेरी सहायता से इस राज्य के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लीजिये–

नर श्रेष्ठ ! यदि नगर के लोग विरोध में खड़े होंगे तो मैं अपने इन तीखे बाणों से सारी अयोध्या को मनुष्यों से सूनी कर दूँगा। जो–जो भरत का पक्ष लेगा अथवा जो केवल उन्हीं का हित चाहेगा उन सब का मैं वध कर डालूँगा क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है उसका सभी तिरस्कार करते हैं –

भरतस्य पक्ष्यो वा यो वास्य हित मिच्छति
सर्वास्ताश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते।

यदि कैकयी के प्रोत्साहन देने पर उनके ऊपर सन्तुष्ट हो पिता जी हमारे शत्रु बन रहे है तो हमें भी मोह ममता छोड़ कर इन्हें कैद कर लेना चाहिये या मार डालना चाहिये। शत्रुदमन राम! आप के तथा मेरे साथ भारी वैर बाँधकर इनकी क्या शक्ति है कि ये राज्यलक्ष्मी भरत को दे दें। देवि ! मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदि की शपथ खाकर तुम से सच्ची बात करता हूँ कि मेरा अपने पूज्य भ्राता श्री राम में हार्दिक अनुराग है।

दीप्तमाग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति

प्रविष्ठं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय।

देवि ! आप विश्वास रखें यदि श्री राम जलती हुई आग में या घोर वन में प्रवेश करने वाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा। मेरे पिता जी कैकयी में आसक्तचित्त होकर दीन बन गये है, बाल भाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक बुढ़ापे के कारण निन्दित हो रहे हैं उन वृद्ध पिता को मैं अवश्य मार डालूँगा। लक्ष्मण के इन ओजस्वी एवं कठोर वचनों को सुनकर शोकमग्न कौशल्या श्री राम से बोली – तुमने लक्ष्मण की बातें सुन ली हैं अब तुम जैसा चाहो करो। जैसे गौरव के कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती अतः तुम्हें यहाँ से वन को नहीं जाना चाहिये। यदि तुम शोक में डूबी हुई मुझे छोड़कर वन को चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी, जीवित नहीं रह सकूँगी। विलाप करती हुई माता के इन वचनों को सुनकर श्री राम ने धर्मयुक्त वचन कहा–

माता, मैं तुम्हारे चरणों में सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझ में पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं है अतः मैं वन को जाना चाहताहूँ। वनवासी विद्वान कण्डू मुनि ने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अधर्म को समझते हुये भी गौ का वध कर डाला था। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये ही वन में फरसे ही अपनी माता रेणुका का गला काट दिया था। इस प्रकार से बहुत से देवतुल्य मानवों ने उत्साह के साथ पिता की आज्ञा का पालन किया। पूर्वकाल में भी धर्मात्मा पुरुषों को यह अभीष्ट था। मैं भी उनके चले हुये मार्ग का ही अनुसरण करूँगा। पृथ्वी पर पिता के लिये करने योग्य जो कर्म है वही मैं करने जा रहा हूँ। पिता की आज्ञा का पालन करने वाला कोई भी पुरुष धर्म से भ्रष्ट नहीं होता। लक्ष्मण की ओर मुखातिब होकर श्री राम बोले – मेरे प्रति जो तुम्हारा परम स्नेह है उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेज का भी मुझे ज्ञान है। मेरी माँ को सत्य और राम के विषय में मेरे अभिप्राय को न समझने के कारण है। संसार में धर्म ही सबसे श्रेष्ट है। धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। पिता जी का भी यह वचन धर्म के आश्रित होने के कारण परम उत्तम है।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्

धर्म संश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।

वीर लक्ष्मण ! धर्म का आश्रय लेकर रहने वाले पुरुष को पिता, माता अथवा ब्राह्मण के वचनों का पालन करने की प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये। मैं पिता की आज्ञा का

उल्लंघन नहीं कर सकता क्योंकि पिता के कहने से ही कैकेयी ने मुझे वन में जाने की आज्ञा दी है। केवल क्षात्र धर्म अवलम्ब करने वाली इस ओछी बुद्धि का परित्याग करो, धर्म का आश्रय लो कठोरता छोड़ो और मेरे विचार के अनुसार चलो। लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर श्री राम ने फिर कौशल्या को सिर झुकाकर कहा– देवि ! मैं यहाँ से वन को जाऊँगा। मैं अपने प्राणों की शपथ रखाकर कहता हूँ आप मुझे कल्याणकारी वचन कहकर विदा करो। माँ ! तुम शोक मत करो। पिता की आज्ञा पालन करके मैं वनवास से यहाँ लौट आऊँगा। तुमको, मुझको, सीता को, लक्ष्मण को और माता सुमित्रा को भी पिता जी की आज्ञा में ही रहना चाहिये। यही सनातन धर्म है। इसलिये माँ मन का दुःख मन में ही दबालो और वनवास का जो मेरा धर्मानुकूल विचार है उसका अनुसरण करो और मुझे वन जाने की आज्ञा दे दो।

कर्म साधन और ईश्वरप्राप्ति साध्य

प्रकृति का धर्म है कि वह तुमसे कर्म करा ही लेता है, चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है, तब कर्म पूरी तरह से क्यों न किया जाय ? कर्म अवश्य करो, परंतु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्त भाव से किया गया कर्म ईश्वर प्राप्ति का साधन है। अनासक्त कर्म को साधन और ईश्वर-प्राप्ति को साध्य वस्तु समझो।

- श्री रामकृष्ण परमहंस

श्रीमद्भागवत में योग परिचर्चा

– डॉ. विजय सिंह

" प्रभो पाहि आपन्न नमामि शम्भो " का उच्चारण लय ताल से बज रहे वाद्य यंत्रों के समवेत स्वरों में गूंजता रहा। लोग बालक, वृद्ध, स्त्री, युवक " प्रभो पाहि " के समवेत ध्वनि में आन्तरिक आनन्द एवं सद्गुरू भगवान के शक्तिपात से सम्प्रज्ञात समाधि में पहुँच जगत, देह–गेह को भूल ध्यानस्त होकर गिर पड़ते थे। संकिर्तन, स्मरण, योगपरायणता जल्दी से मन को श्रद्धा से भरकर प्रेमयोग, भक्तियोग प्राप्त कराता रहा है।

द्वितीय स्कन्ध के तीसरे अध्याय में भक्तियोग का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

अकाम: सर्व कामो वा मोक्ष काम उदारधी:।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरूषं परम।। 10।।

स्क. 2, अ. 3

अर्थात सकाम उपासक हो, निष्काम उपासक हो अथवा मोक्ष चाहता हो, उस साधक को तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरूषोत्तम भगवान की ही आराधना करनी चाहिये।

भगवत अनुरागी सिद्ध संग से जल्द ही भगवान में श्रद्धा प्रेम का उदय हो जाता है। ऐसे महापुरूषों के संग से दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे त्रय ताप का समन होता है। धीरे धीरे शुद्ध हृदय में आनन्द का अनुभव होने लगता है। इन्द्रियों के विषयो में आसक्ति नहीं रहता, कैवल्य (असम्प्रज्ञात समाधि) का मार्ग सरलता से भक्तियोग द्वारा प्राप्त हो जाता है। ईष्ट चरणानुराग एवं उनकी ललित लीलायें मन में प्रेम भाव जगाती ही है।

चौथे अध्याय में श्री शुकदेव जी ने बड़े मर्म भरी वाणी में कहा है– विज्ञ पुरूष सदैव जिनके चरण कमलों के चिन्तन रूप समाधि से शुद्ध हुई बुद्धि के द्वारा आत्म तत्व का साक्षात्कार करते हैं तथा उनके दर्शन के पश्चात अपनी–अपनी मति और रूचि के अनुसार उनके स्वरूप का वर्णन करते रहते हैं, वे प्रेम और मुक्ति दाता भगवान श्री कृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों।

यदङ्घ्रिभिध्यान समाधिधौतया, धियानुपश्यन्ति हि तत्त्व मात्मन:
वदन्ति चैतत् कवयो यथा रूच्च, स मे मुकुन्दो भगवान प्रसीदताम्।।

पंचम अध्यायत्र, द्वितीय स्कन्ध में, सृष्टि कर्ता ब्रह्माजी से नारद जी द्वारा सृष्टि प्रकृया के बारे में पूछा गया है। इस संसार का क्या लक्षण है ? इसका आधार क्या है ? इसका निर्माण किसने किया है ? इसका प्रलय किस में होता है ? यह किसके अधीन है ? तत्वत: यह क्या वस्तु है ? इन सारयुक्त प्रश्नों का विस्तार से उत्तर भगवान ब्रह्मा ने नारद को बताया है।

सृष्टि, स्थिति, और प्रलय के लिये रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण ही कारण विशेष है। यही माया है। ईश्वर माया से रहित अनन्त है। ये ही तीन गुण द्रव्य, ज्ञान और क्रिया द्वारा मायातीत नित्य मुक्त पुरुष को कर्तापन के अभिमान से बाँध रखा है। अतः जब भगवान एक से बहुत होने की इच्छा करते हैं उस समय अपनी माया से काल, कर्म और स्वभाव को उत्पन्न कर, काल द्वारा त्रैगुणों में क्षोभ उत्पन्न करते हैं। उनके दिव्य कर्म ने महत्तत्व को सर्व प्रथम पैदा किया। तमः प्रधान विकार रूप महत्तत्व से ज्ञान, क्रिया, द्रव्य पैदा होता है। यह विकार ही अहंकार कहलाता है। इसमें त्रैगुण से विकार द्वारा वैकारिक अहंकार, तैजस अहंकार और तामस अहंकार में बँट जाता है। ये ही ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति और द्रव्य शक्ति हैं। तामस अहंकार से पंच महाभूत में प्रथम आकाश और तन्मात्रा जिसका गुण शब्द है। आकाश के विकार रूप वायु उसका गुण स्पर्श हुआ। यह कारण सम्बन्धों से शब्द वाला भी है। वायु के द्वारा इन्द्रियों में जीवनी शक्ति, बल व्यापता है। वायु में विकार से तेज उत्पन्न हुई। इसका प्रधान गुण रूप है साथ ही शब्द, स्पर्श भी गौण रूप में है। तेज से जल जिसमें रस प्रधान गुण है और शब्द, तेज, स्पर्श गौण हैं। कारण के गुण कार्य में आते हैं। जल से पृथ्वी जिसका गुण गंध है। साथ ही शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चारों गुण भी पृथ्वी में विद्यमान हैं।

वैकारिक अहंकार से मन की और इन्द्रियों के देवताओं की उत्पत्ति हुआ है। तैजस अहंकार से श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। तैजस अहंकार से बुद्धि और प्राण ज्ञानशक्ति एवं क्रिया शक्ति रूपा है।

यह सब उन भगवान वासुदेव की माया से उत्पन्न हैं। नारद मैं ब्रह्मा उन्हीं मायाधीश्वर की हर पल ध्यान एवं वंदना करता रहता हूँ। उनकी माया से मोहित होकर ही लोग मुझे जगदगुरु कहते हैं।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।
यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्।।12।।

(स्कं. 2, अ. 5)

कहाँ तक कहूँ, सब प्रकार के योग नारायण की प्राप्ति हेतु हैं। सारी तपस्यायें उन्हीं की ओर ले जाती हैं। ज्ञान के द्वारा वे ही जाने जाते हैं। समस्त साधनों एवं साध्य का अन्त भगवान नारायण में ही है।

नाराणपरो योगो नारायणं परं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायण परा गतिः ।। 16।।

(स्कं. 2,अ. 5)

स्कन्ध 2 के छठे अध्याय में भगवान के विराट रूप एवं विभूतियों का वर्णन किया

गया है। उन्ही से धर्म, सर्वदेव, सर्व योनियाँ तथा ग्रहनक्षत्र, सूर्य, चन्द्र मण्डल सहित सम्पूर्ण लोक भगवान के अंश मात्र से उद्भव हुये हैं। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग लोक इसके उपर महलेकि है। जन, तप और सत्य लोकों में अमरत्व, क्षेम वान एवं अभय का नित्य निवास है।

सकाम उपासक दक्षिण मार्ग से तथा निष्काम उपासक उत्तर मार्ग से मृत्यु के पश्चात यात्रा करते है। यहाँ अहंकार युक्त साधना से परमात्म तत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। शरणागत भाव भावित हृदय ही उन अदृष्य परमात्मा को उनकी कृपा से जान पाते हैं (अगड़धत्ता जी के प्रसंग से यह बात स्पष्ट होता है) ब्रह्मा जी ने नारद से कहा – मैं वेदमूर्ति हूँ, मेरा जीवन तपस्यामय है। पहले मैंने बड़ी निष्ठा से योग का सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया परन्तु अपने मूल कारण को नहीं जान सका।

सोऽहं समाम्नायमयस्त पोमय:
प्रजापतीनाभमिवन्दित: पति:।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित–
स्तं नाध्यगच्छंयत आत्मसम्भव: ।।34।।

(स्क.2,अ.6)

भगवान नारायण के विराट रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अवस्थित है। इसके विस्तार को कोई आकलन नहीं कर सकता। अत: उनके लीला अवतरणों की कथा में मन को लगाकर आनन्द ग्रहण करतें हुये चित्त को प्रसादित करना ही श्रेष्ठ साधन है। पुराण में प्रकरण को स्पष्ट करने के लिये संक्षेप तथा विस्तार अथवा प्रकरण का पुनरावृत्ति का अनुसरण किया गया है। सप्तम अध्याय में भगवान के लीलावतारों की कथा संक्षेप में वर्णित किया गया है। प्रथम स्कन्ध में भगवान के बाइस अवतार के क्रमानुसार नाम बताये गये हैं। यहाँ उन अवतारों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

भगवान ने पृथ्वी का उद्धार एवं आदि दैत्य हिरण्याक्ष का वध हेतु बाराह–शरीर ग्रहण किये। आकुति के गर्भ से सुयज्ञ रूप में अवतार लेकर दक्षिणा नाम की पत्नी से देवताओं को उत्पन्न किया। इन्ही का एक नाम हरि भी है।

माता देवहुती के गर्भ से कपिल के रूप में अवतार ग्रहण किये तथा माता को सांख्य योग का उपदेश किया जिसके फलस्वरूप माता स्वयं कपिल स्वरूपता को प्राप्त हो गयीं।

महर्षि अत्रि भगवान को पुत्ररूप में पाना चाहते थे। उन पर प्रसन्न हो भगवान ने कहा कि " **मैंने अपने आपको तुम्हें दे दिया** "। यही भगवान का दत्तात्रेय अवतार है। जिसके कृपा से राजा यदु, सहस्त्रार्जुन आदि ने योग से भोग और मोक्ष दोनों की सिद्धियाँ प्राप्त कीं –

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान स दत्त:।

यत्पादपङ्कजपराग पवित्र देहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुददेह्याद्या: ॥4॥

(स्क 2, अ 7)

इस अध्याय में अवतार क्रम कालानुक्रमानुसार वर्णित नहीं है। ब्रह्मा जी के तप से प्रसन्न होकर सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार के रूप में सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान अवतरित हुये। कल्प केभूले आत्मज्ञान का प्रागट्य ऋषियों को कराया।

धर्म की पत्नी दक्ष कन्या से नर–नारायण रूप में प्रकट हुये। काम की सेना अप्सरायें भगवान की तपस्या में विघ्न नहीं डाल सकी। वेन के मृत शरीर मथन से पृथु रूप में अवतार लेकर पृथ्वी में लुप्त सम्पदा व औषधियों का प्राकट्य किया।

राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान ऋषभ देव का जन्म हुआ उन्होंने आसक्ति रहित योगाचर्य का आचरण किया –

" यों वै चचार समदृग जड योगान्चर्याम: "

देहधारियों के भोग–विषय, सुख–साधन बादलों में चमकने वाली बिजली की तरह चंचल हैं ; मनुष्यों की आयु या उम्र हवा से छिन्न–भिन्न हुए बादलों के जल के समान क्षणस्थायी या नाशवान है और जवानी की उमंग भी स्थिर नहीं है। इसलिए बुद्धिमानो ! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके उसे योग साधना में लगाओ।

तस्मात् त्रयं त्यजेत

– पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय, प्रवक्ता, गोरखपुर

गीता भगवान योगयोगेश्वर के अमर वाणी की धरोहर है। जिसमें मनुष्य जीवन की अनबूझ पहेली का निदान है। अर्जुन सुधी भोक्ता है। जिससे गीता रूपी अमृत दूध को भगवान ने दुहा है। इसी प्रकार जीव को इस शास्त्र प्रमाण को जानकर अपने कर्त्तव्य को निश्चित करना चाहिए। भगवान ने स्वयं जीवों के लिए उपदेशित करते हुए कहा कि–

तस्माच्शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमहार्हसि।।

हे अर्जुन कर्त्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने योग्य है।

जीव इस दृश्य जगत में विभिन्न विषम परिस्थितियों से अनेकों बार गुजरता है। किन्तु कल्याणकारी निष्कर्ष नहीं निकाल पाता है। ऐसी विषम परिस्थिति में जीव अपने गुण वृत्ति के अनुसार समाधान करता है, अर्थात् जीव का जैसा स्वभाव वैसा निर्णय। किन्तु वह उसके दूरगामी परिणाम को नहीं समझ पाता है। ऐसी स्थिति में यदि उसने शास्त्र के प्रमाण के अनुसार कार्य नहीं किया, तो उसको किसी भी स्थिति का सामना करना पड़ सकता है। यही दैवासुर सम्पत्ति का भागी बनना पड़ेगा। तात्पर्य यदि वह शास्त्र प्रमाण के अनुसार कार्य करेगा तो दैवी सम्पत्ति वाला होगा। यदि मनोमुखी होकर कार्य किया तो आसुरी वृत्ति की सम्पत्ति का भागी होगा। मनुष्यों में स्थित गुण वृत्ति होती है। यह ईश्वर की त्रिगुण माया है। इसी का आश्रय लेकर ब्रह्मा सृष्टि सर्जक विष्णु पालक एवं शंकर संहारक हैं। ब्रह्मा जब रजोगुण से सृष्टि विस्तार, विष्णु सत्ववृत्ति का आश्रम लेकर सृष्टि पालन तथा रुद्र तमोगुण का आश्रय लेकर सृष्टि का संहार करते है। इसी प्रकार इस संसार में मनुष्य भी इन्हीं गुण वृत्ति विरोध से ग्रसित है। कलिकाल के प्राणियों की वृत्तियों के अलग–अलग गुण धर्म बताते हुए भगवान ने सर्वप्रथम सात्विक वृत्ति वाले प्राणियों के बारे में बताते हुए कहा कि –

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

अर्थात् जिसमें भय का सर्वथा अभाव हो, अन्तःकरण निर्मल, तत्वज्ञान हेतु ध्यान योग में दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन अर्थात् नियंत्रण, ईश्वर, देवता तथा गुरूजनों की पूजा, अग्नि होत्र, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन में कष्ट सहन तथा अन्तःकरण की सरलता यह सात्त्विक वृत्ति वाले मनुष्यों की गुण वृत्ति है। इसके अतिरिक्त भगवान ने पुनः कहा कि –

अहिंसा सत्यम् क्रोधस्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।

दयाभूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं हीर चापलम्।।
तेजः क्षमाः धृत्ति शौचम द्रोहोनाति मानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

इसके विपरीतगुण धर्म वाले लक्षण तामसी या राक्षसी वृत्ति के कहलाते हैं। सात्त्विक वृत्ति तो व्यक्ति के उत्थान के लिए तथा तामसी वृत्तियाँ व्यक्ति को अधोगति बनाने वाली होती हैं। आसुरी वृत्ति वाले व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को ही नहीं जानते है। इसी कारण उनमें ब्रह्म तथा आभ्यान्तर की शुद्धि भी नहीं होती है। उनका आचरण भी न तो श्रेष्ठ हैं न तो सत्य भाषण ही करते हैं। उनका यह मानना है कि यह सृष्टि स्त्री पुरूष के संयोग के फलस्वरूप स्वाभाविक रूप से निष्पन्न है। अज्ञानता के कारण वे मिथ्या सिद्धान्तों को गढ़ लेते हैं। उसी का परिपालन वे करते है। उनका सीमित एवं क्षणिक सुख ही परम सुख होता है। वे सृष्टि विध्वंसक रूप में ही जाने जाते हैं। ऐसे जीव के बारे में उपदेशित करते हुए भगवान ने अर्जुन को बताया कि –

इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि में भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।

अर्थात् उनका यह मानना है कि मैंने आज इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लिया है। मेरे पास इतना धन है, और फिर हो जायेगा। मैंने अपने शत्रु को मार डाला है। इसी प्रकार अन्य दूसरे शत्रुओं को भी मार डालूगा। मैं ही ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त तथा बलवान और सुखी हूँ। इस तरह आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग डींग हाँकते है। सद्गुरूदेव भगवान भी अपने प्रवचनों में साधक को सावधान करने हेतु उपदेश देते रहते थे। जिससे सेवी साधन पथ पर आरूढ़ साधक कहीं अपने पथ से विचलित होकर ऐसी गुण वृन्त विरोधी गुण वाला न हो जाय। क्योंकि योग निश्चय ही ऐश्वर्य प्रदान करने वाला होता है।

भगवान कहते हैं कि ऐसे अधम प्राणियों को बार–बार आसुरी योनियों मे ही डालता है। वे मूढ़ लोग मुझको नहीं प्राप्त होते हैं। व्यक्ति चाहे वह सात्त्विक वृत्ति या आसुरी वृत्ति वाला हो उसे कभी भी काम क्रोध और लोभ को त्याग देना चाहिए, नही तो ये आत्मा का ही नाश कर देते है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता है। व्यक्ति को आत्म कल्याण हेतु सात्त्विक वृन्त का ही। आश्रय लेना श्रेयस्कर होगा क्योंकि व्यक्ति जैसे ही मातृकुक्षि में आता है वह परमात्मा से अपने बंधन की मुक्ति हेतु बार–बार वहाँ प्रार्थना करता है। भगवान इसी प्रार्थना के क्रम में उसे मुक्त भी कर देते है। पुनश्च इस संसार में आते ही गुणवृत्ति विरोध से घिर जाते है तथा अपने किये गये वादे को भूल जाता है। माया से आकृष्ट होकर वह आत्म कल्याण के बारे में सोचता ही नहीं है। अतः अपने पूरे जीवन भर विपत्तियों, आफतों से ग्रसित रहता है। संसार की नश्वरता को जानते हुए भी उसी में फंसता चला जाता है। इसलिए व्यक्ति को शास्त्र प्रमाण के अनुसार कार्य करते

हुए परमगति को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जो ऐसा नहीं करता उसके गति के बारे में बताते हुए भगवान ने कहा –

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामशरतः।
न स सिद्धिभवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥

अर्थात् जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मन माना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त करता है न तो परमगति एवं सुख को ही जीवन में प्राप्त कर पाता है। भर्तृहरि ने अपने स्वानुभूति को कुछ ऐसे प्रकट किया है –

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता तपो न तप्तं भमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता सतृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

इसलिए उन्होंने पुनश्च कहा – चिरकाल तक भोग किए विषय एक न एक दिन अवश्य ही भोगने वाले को छोड़ते हैं। तब यदि उन्हें स्वयं ही छोड़ दिया जाय तो क्या हानि ? फिर भी हम छोड़ने को तैयार नहीं होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वे इसको स्वयं छोड़ दे क्योंकि अपनी इच्छा से विषयों का त्याग करने पर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और यदि विषयों को न छोड़ा जाय तो बड़ा सन्ताप होता है। इसलिए आज आवश्यकता है कि व्यक्ति अपने मन के किसी भी विकारों को दूर रखे। यदि सब नहीं तो कम से कम तीन काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को तो दूर ही कर सकता है। इसके लिए उसे दृढ़ इच्छा के साथ सद्ग्रन्थों के अध्ययन की भी आवश्यकता होगी। ये सद्ग्रंथ समाज में उपलब्ध भी हैं।

योग के लिए श्रेष्ठ एकान्त स्थान गुरु का निवास स्थान है। अगर शिष्य के साथ गुरु रहते नहीं हों तो ऐसा एकान्त सच्चा एकान्त नहीं है। ऐसा एकान्त काम और तमस का आश्रय स्थान बन जाता है।

-- स्वामी शिवानन्द

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरु देव जी द्वारा)

प्रश्न – हे गुरुदेव ! कृपा करके यह बतलाइये कि 'ईश्वर प्रणिधान' किसे कहते हैं और उससे समाधि किस प्रकार प्राप्त हुआ करती है ?

उत्तर – हे सौम्य ! प्रातः स्मरणीय भगवान व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में ईश्वर प्रणिधान की व्याख्या करते हुए लिखा है –

सर्वकर्मणां परम गुरावीश्वरे अर्पणां तत्फल संन्यासो वा।

अर्थात् अपने समस्त कर्मों को तथा उसके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। यही बात अखिल लोकनायक योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता में कही है –

यत्करोषि यदश्नासि,
यद्दासि जुहोषि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभफलैरेवं,
मोक्ष्यसे कर्म बन्धनै।
सन्यासयोगयुक्तात्मा,
विमुक्तो मामुपैष्यसि।

हे अर्जुन ! तू जो कुछ भी करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो भजन करता है, जो तप करता है वह सब मुझ परमेश्वर के अर्पण कर दे।

इस प्रकार कर्मों को ईश्वर को समर्पण करने रूप संन्यास योग से युक्त हुए मन वाला तू, शुभाशुभ फलरूप कर्म–बन्धन से मुक्त होकर मेरे को ही प्राप्त हो जायेगा।

भगवान श्री पतंजलिदेव जी महाराज ने भी **"ईश्वरप्रणिधानाद्वा"** तथा **"समाधिसिद्धि ईश्वर प्रणिधानाद्"** अपने इन सूत्रों में ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि सिद्धि बतलाया है।

ईश्वर प्रणिधान कैसे हो सकता है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं –

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थ भावनम्।
ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायांभावश्च।

अर्थात् उस ईश्वर का वाचक प्रणव (ॐकार) है। अतः साधक को प्रणव का जप करना चाहिए

और उसके अर्थ–स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से साधना में आने वाले विघ्न दूर होते जाते है और परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है।

प्रश्न– हे गुरुदेव ! ईश्वर के नाम तो अनेक हैं। क्या उनके जप से भी प्रणिधान हो सकता है या कि प्रणव जप से ही ऐसा होना सम्भव है ?

उत्तर– हे वत्स ! नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध है। ईश्वर के सभी नाम एक–से हैं, किसी को बड़ा छोटा नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्रणव (ॐ) ईश्वर का वेदोक्त नाम होने से सबसे पवित्र माना गया है, अतः इसके जप का विधान किया गया है। शास्त्रों में स्थान स्थान पर प्रणव महिमा का वर्णन मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने प्रणव का महत्व बताते हुए लिखा है :–

अदृष्ट विग्रहो देवो
भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योङ्कार स्मृतो नाम
तेनाहूतः प्रसीदति।।

अदृष्ट विग्रह देव जो अव्यक्त है, मन की धारणा से जिसका चिन्तन किया जाता है उस परम पुरुष का नाम 'ॐ' है। ओम शब्द का उच्चारण करने से वह अव्यक्त आत्मा प्रसन्न होता है –

प्रणावो वाचकस्तस्य
शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादि शब्दानां
प्रणवो हि परः स्मृत।।

भगवान सदाशिव का बोधक नाम ही ओम् है। शिव रुद्रादि शब्दों में उनका बोध कराने वाला नाम प्रणव ही प्रमुख है और उन प्रणव रूप महेश्वर में करोड़ों रुद्र, ब्रह्मा व विष्णु का समावेश है।

कठोपनिषद् के निम्नांकित मन्त्रों में प्रणव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है–

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म
एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो
यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठं
एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा
ब्रह्मलोके महीयते।।

यह अविनाशी ऊँकार ही परमात्मा का स्वरूप है और यही परब्रह्म परमेश्वर है। अतः इस तत्व को समझ कर साधक जो भी चाहे उसे प्राप्त कर सकता है।

यह ऊँकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर और कोई आलम्बन नहीं है। अर्थात् परमात्मा के श्रेष्ठ नाम की शरण हो जाना ही उनकी प्राप्ति का एक अमोघ साधन है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धापूर्वक प्रणव का जप करता है वह परमात्मा को पा जाया करता है। अतः साधक को चाहिए कि वह निरन्तर प्रणव का जप करता रहे। जप करते-करते जब वह थक जाय तो नित्य चेतन परमात्मा का ध्यान करे। क्योंकि हमारे शास्त्रों का आदेश है-

जप श्रान्तः शिवं ध्यायेत्

ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।

जप ध्यान समायुक्तः

परं ब्रह्माधिगच्छति।।

योगदर्शन के सूत्र **'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'** की व्याख्या करते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है -

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना, तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।

अर्थात् प्रणव का जाप करने से और उसके अर्थस्वरूप ध्यान करने से योगी का चित्त अनायास ही एकाग्र हो जाता है।

इस प्रकार ईश्वर के वाचक प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का निरन्तर जाप करना, अतिशय श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक उसका चिन्तन करते रहना, अपने समस्त कर्मों एवं उसके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना तथा अपने को सर्वतोभावेन अपने इष्टदेव के हवाले कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। जहाँ इस प्रकार का प्रणिधान अर्थात् पूर्ण आत्म-समर्पण हो जाय वहीं अविलम्ब समाधि-लाभ हो जाया करता है। **'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।'** इस सूत्र पर अपने भाष्य में श्री व्यासदेव जी महाराज ने लिखा है-

प्रणिधानाद भक्तिविशेषादावर्जितः

अभिमुखीकृत ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभि

ध्यानमात्रेणइदमस्याभिमतमस्तुरिति।

अर्थात् प्रणिधान से-भक्ति विशेष से अभिमुख किया गया ईश्वर उस साधक पर अनुग्रह करता है और उसके लिए यह संकल्प करता है कि इसकी अमुक मनोकामना पूरी हो जाये। ईश्वर के संकल्प से उसे तत्काल मनवाञ्छित वस्तु (समाधि) प्राप्त हो जाती है।

निजानुभूतियाँ

– श्री महेन्द नारायण सिंह, कोटपर बरैनी, मिरजापुर

श्री गुरूदेवजी द्वारा प्रदत्त पुष्प–माल्य के प्रयोग का चमत्कारी प्रभाव

बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले में उत्तर प्रदेश के मीरजापुर व बनारस जिले के भूमिहार ब्राह्मणों की सैकड़ों वर्षों से खेती होती है। नैपाल की तराई से सटे होने के कारण वहाँ की भूमि धान एवं ईख के लिए प्रसिद्ध है, उक्त क्षेत्र में चीनी की कई मिलें हैं। मीरजापुर जिले के कछवा थानान्तर्गत बरैनी ग्राम के निवासी ठा. अवधनरेशसिंह जी बैलहरिया भूमिहार ब्राह्मण की भी खेती चम्पारन जिले के बगहा थानान्तर्गत एक डेखा ग्राम में होती है, इस वर्ष 1969 ई. में उत्तरी बिहार के लाखों एकड़ भूमि में धान की फसलों में मधुआ नामक कीड़े लग गये हैं, इससे धान के पौधे सूखकर नष्ट हो जाते हैं। इन कीड़ों को नष्ट करने के लिए बिहार सरकार वायुयानों द्वारा फसलों पर दवा का छिड़काव कर रही है। श्री अवधनरेशसिंह जी गत 1969 ई. के चैत्र रामनवमी के उत्सव पर सवाई आश्रम पर गुरुचरण दर्शनार्थ गये थे, साथ में उनकी सुपुत्री सुश्री राजकुमारीदेवी भी गई थी, घर लौटते समय परम करूणानिधि श्री गुरूदेव जी ने पिता पुत्री को प्रसाद स्वरूप पुष्पहार देने की अनुकम्पा की। राजकुमारी ने अपने पिताजी से प्रार्थना की कि इन पुष्प–मालाओं को पवित्रतापूर्वक माँ सुरसरि की शुभ्र–धारा में प्रवाहित कर दीजिए पर गुरूचरण प्रेरणावश बाबू साहब उक्त दिव्य मालायें अपने साथ बिहार प्रान्त के अपने खेतों पर लेते गये तथा माला के कुछ पुष्पों की पुखुड़ियों को मस्तक से लगाकर श्री गुरूदेव जी कास्मरण करके अपने धान के खेतों में बिखेर दिया, साथ ही प्रार्थना की कि हे सर्वशक्तिमान श्री गुरूदेव जी ! गत वर्ष के भीषण सूखे से धान की सारी फसल नष्ट हो गई, जिससे आर्थिक तंगी का शिकार होना पड़ा, इस वर्ष की फसल खराब न होने पाये नहीं तो मैं कहीं का न रहूँगा। कारण हम दीन किसानों के जीवन–यापन के लिए केवल खेती का ही सहारा है। अशरण शरण परम सद्गुरूदेव ने उनकी आर्त पुकार सुन ली, पास पड़ौस के धान के खेतों में मधुआ कीड़ों का भीषण आक्रमण हुआ, पर श्री अवधनरेशसिंह के किसी भी खेत में कीड़ों का प्रकोप नहीं हुआ। वे प्रसन्न एवं निश्चिन्त थे, पर बाद में गाँव के पास गोइड़ के अच्छी फसल देने वाले दो खेतों में दो तीन स्थानों पर एक क्यारी खेत में कीड़ों के प्रकोप के लक्षण दिखाई पड़े। उक्त स्थानों के कुछ धान के पौधे सूखने लगे, इन्हें भय हुआ कि सारे खेतमें कीड़े फैल करके कई बीघा नष्ट कर देंगे। इनके एकमात्र सुपुत्र श्री रामचन्द्रप्रसाद सिंह जी जो वहीं चम्पारन जिलान्तर्गत परसा ग्राम के मिडिल स्कूल में अध्यापक हैं, बी.डी.ओ. के यहाँ जाकर खेत का सब हाल बताया। बी.डी.ओ. साहब ने बताया कि बिहार सरकार के नियमानुसार पहले प्रति बीघा 15 रूपये के हिसाब से अग्रिम रूपया जमा करा दो, तब हम सरकारी कर्मचारी भेजकर आपके खेतों में कीट–नाशक

औषधि का छिड़काव करा देंगे। साथ ही सारे सूखे पौधे उखाड़कर बाहर फेंक दीजिये नहीं तो रोग सर्वत्र फैल जायेगा। अवधनरेश सिंह सब बातें सुनकर सोचने लगे कि गुरूदेव जी द्वारा प्रदत्त कभी असफल नहीं होता, पुष्प प्रसाद खेतों में बिखेरते समय संभवत: उक्त स्थानों में पंखुड़ियाँ न पहुँच पाई होंगी। दूसरे दिन शेष बची पुष्प पंखुड़ियाँ रोग लगे खेत में उन्होंने जाकर गुरूचरण का स्मरण करके पुन: बिखेर दिया। साथ ही प्रार्थना की कि हे दीनबन्धु गुरुदेव जी ! शरण गत की रक्षा कीजिये। दुबारा पुष्प प्रसाद के छिड़काव से उनके खेत का रोग समाप्त हो गया। सूखे हुए पौधों में भी नये–नये अँकुर निकलकर तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। अभी हाल ही में श्री अवध नरेश सिंह चम्पारन से सपत्नीक घर लौटकर बरैनी आये हैं, वे गुरु चरणों में दीक्षित नहीं हैं, पर श्री गुरुदेव द्वारा प्रदत्त पुष्प–प्रसाद के चमत्कारी प्रभाव का मंत्रमुग्ध होकर लोगों से वर्णन करते हैं।

निराश पत्नी की रुदनमय प्रार्थना पर गुरु–प्रसाद प्राप्ति से पति शीघ्र स्वस्थ

पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार जन. 1966 ई. में योग–प्रचारार्थ एवं अपने प्रिय भक्तों को अपने पावन चरण–कमलों का दर्शन देने हेतु सद्गुरुदेव भगवान बरैनी ग्राम में पधारने की अनुकम्पा प्रदान किये थे। बदली एवं बूँदा बांदी के कारण जनवरी का उग्र रूप धारण किये था। बरैनी ग्राम के निवासी श्री राजमहल जी स्वर्णकार उसी समय बीमार हो गये, बीमारी ने शीघ्र ही विकराल रूप धारण कर लिया, तीन दिन से अन्न–जल छूट गया था। श्वसि अहर्निश बड़े वेग से चल रहा था। 72 घण्टे लगातार नींद नहीं आई, शारीरिक आशक्यिता–वृद्धि एवं भीषण कष्ट से उनकी धर्मपत्नी भावी आशंका से भयभीत हो उठी। घर में पत्नी के अतिरिक्त छोटे–छोटे कई बच्चे भी थे, जीवनयापन के लिए उनके पास कोई स्थायी सम्पत्ति खेत, बागादि भी नहीं था, सारे परिवार के भरण पोषण का भार श्री राजमहल जी के ऊपर था। इनकी निराशाजनक शारीरिक स्थिति देखकर पड़ोस के लोग भी दु:खी एवं चिंतित हो गये। चौथी रात्रि को श्री राजमहल जी की पत्नी को सहसा स्मरण हो आया कि शुद्ध चेतन ब्रह्मस्वरूप मेरे गुरूदेव जी गाँव में ही विराजमान हैं। शरण में जाकर केवल गुरुचरणों का कृपा प्रसाद प्राप्त करके कितने लोगों का कल्याण हो रहा है, मैं इधर–उधर भटक रही हूँ। रात के लगभग 10 बजे होंगे, महाप्रभु योग–योगेश्वर श्री रामलालजी महाराज के पावन स्वरूप आनन्दकन्द श्री गुरुदेव जी के कर–कमलों द्वारा हो चुकी थी, प्रवचनादि सब कार्यक्रम पूर्ण हो चुके थे, उपस्थित जन–समुदाय अपने–अपने घर जाने की तैयारी में था, गुरुदेव जी शयन–कक्ष में जाने की प्रतीक्षा में बैठे थे, प्रभुजी का उधर गमन हो तो हम सब भी अपने–अपने घरों को प्रस्थान करें। पर घट–घट के वासी दयासिन्धु सब कार्यक्रम पूर्ण करके भी आसन उठे नहीं, देर तक विराजमान रहे। आसन से अनाथनाथ के न उठने का रहस्य उस समय प्रकट हुआ जब घूँघट में मुँह छिपाये, दबी सिसकियां भरती हुई धीरे–धीरे आकर श्री राजमहल सेठ की धर्मपत्नी जगन्नियता परम सद्गुरुदेव के अभय पदाम्बुजों में लिपट गई। लीलानाथ के पूछने पर रुदन भरे स्वर में

आहिस्ता–आहिस्ता अपने पतिदेव की भयंकर बीमारी का हाल किसी प्रकार गुरु–चरणों में निवेदन किया। सारा समाचार सुनकर भक्त–भवभयहारी कृपानाथ ने कहा, तीन दिन से तुम्हारा पति भीषण संकट पा रहा है, तुम पहले ही क्यों नहीं आई, परम कृपा–निकेतन ने प्रसाद मंगवाकर हाथ में लेकर कुछ क्षण नेत्रों, दोनों नेत्र बन्द कर लिये, फिर उक्त प्रसाद को श्री राजमहल जी की धर्मपत्नी को देकर कहा, जाकर अभी यह प्रसाद उसे खिला दो साथ ही नाक द्वारा गरम जल भी पीने का आदेश दिया। राजमहल उक्त मिष्ठान प्रसाद ग्रहण करते ही निद्रा मग्न हो गये नाक द्वारा गरम जल पीने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, श्वांस कष्ट भी तुरन्त ही गायब हो गया।

प्रातः नींद खुलने पर श्री राजमहल जी अपने को पूर्ण स्वस्थ पाये। कठोर शीत में भी प्रातः की आरती में सम्मिलित होने स्नान करके आये। गत रात्रि में जब इनकी धर्म–पत्नी गुरुदेव जी से कृपा की भीख मांग रही थी, उस समय दर्शकों की भीड़ में इस क्षेत्र के चकबन्दी अधिकारी (सी ओ महोदय) भी थे तथा कछवा बाजार के गांधी विद्यालय इण्टर कालेज के प्रिंसीपल श्री ललित पांडेय जी भी जो कुछ आधुनिक भौतिकवादी विचार–धारा से प्रवाहित हैं। अपने कालेज में श्री गुरुदेव जी के निश्चित तिथि को प्राप्ति की प्रार्थना के लिए पधारे थे। दूसरे दिन अपरान्ह 4 बजे उक्त विद्यालय में गुरुदेव जी के पावन प्रवचन श्रवणार्थ जब श्री राजमहल जी विद्यालय गये तो इनकी शारीरिक स्फूर्ति देख कर लोगों को आश्चर्य हुआ कि क्या यह वही व्यक्ति हैं, जो लगातार तीन दिन से निरा अनिद्रा श्वांस वृद्धि आदि के भीषण कष्ट से पीड़ित था जिसके जीवनरक्षा के लिए उसकी पत्नी बार–बार रुदन करते हुए गुरु चरणों में निवेदन कर रही थी। इसके पश्चात् जितने दिन तक श्री प्रभुजी का बरैनी में निवास रहा, श्री राजमहल जी गुरु–कृपा प्रसाद से पूर्ण स्वस्थ रहे तथा सपरिवार सब कार्यक्रमों में सम्मिलित होते रहे।

धर्माचरण से रहित मनुष्यों को मैं जीवित रहते हुए भी मरे हुए के समान मानता हूँ। धर्माचरण करने वाला मर कर भी जीवित रहता है, इसमें कोई शक नहीं क्योंकि उसका नाम और यश अमर रहता है।

योग-आसन

स्वस्तीक आसन

प्रथम साधारण स्थिति में बैठ जाओ और अपने बायें पैर के पंजे को पकड़ करके पिंडली और जंघा के बीच में अपने दोनों पैरों के पंजों को दबायें और समकाय शिरोग्रीव हो करके दोनों हाथों को सिद्धासन की तरह दबा करके मेरुदण्ड को सीधा करके बैठ जायें और दृढ़ता से अभ्यास करें। स्वस्तीक आसन का फल भी सिद्धासन के समान ही है।

समय – सरलता पूर्वक 1 मिनट से आरम्भ करना चाहिए व धीरे–धीरे रोजाना 2–2 मिनट बढ़ाते हुए घण्टों तक ले जाना चाहिए।

लाभ – स्वस्तीक आसन ध्यानाभ्यास के लिए परम उपयोगी आसन है इस आसन में बैठने पर सुषुम्ना की गति अपने आप हो जाती है। मन की एकाग्रता स्वतः ही जागृत हो जाती है। यह सिद्धासन की अपेक्षा अधिक सरल है। इस आसन को गृहस्थी, विरक्त, सन्यासी, महात्मा, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ सभी सरलता से कर सकते हैं।

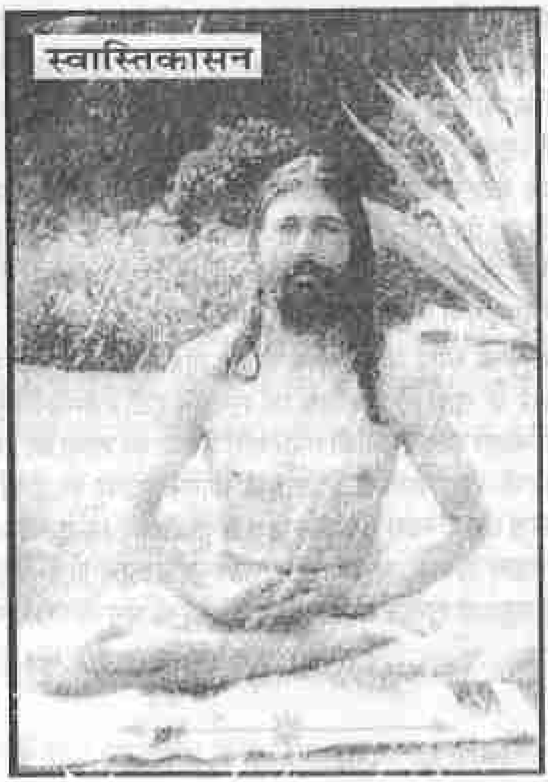

आश्रम समाचार........

टोडरपुर वाराणसी आश्रम का द्वितीय वार्षिक योग महोत्सव योग योगेश्वर श्री चन्द्र मोहन जी महाराज ध्यान योग संस्थान में 10 अक्तूबर से 14 अक्तूबर तक बड़े ही हर्ष एवं उल्लास के साथ आचार्य डॉ. दासलाल जी के निर्देशन में मनाया गया। यद्यपि 'हुदहुद' नामक तूफान का असर वाराणसी में भी रहा इस कारण से कई दिन वर्षा होती रही फिर भी आने वाले साधक भारी संख्या में आये। हिमाचल मण्डी से 23–24 साधक इस शिव नगरी में सम्मेलन में शामिल होने के लिये आये। इसके अतिरिक्त दिल्ली, रोहतक, गाजीपुर, बलिया एवं बिहार से भी साधकों ने समारोह में आकर पुण्य लाभ लिया। प्रवचन कर्त्ताओं ने योग सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्य खोले। श्री सिद्धगुफा सवाई आगरा से आये आचार्य डॉ. दासलाल जी ने योग को अमर विद्या बताते हुये इसे मुक्ति का एक मात्र साधन बतलाया। हमारे सद्गुरु जी ने गृहस्थ व विरक्त सभी को एक समान ही योग की दीक्षा दी है। जीवन में प्रतिदिन दो–ढाई घण्टे का समय निकाल कर साधना में नियमित लगने पर अन्दर की दिव्य शक्तियों का जागरण होता है। कालान्तर में समाधि की ऊँची अवस्था प्राप्त हो जाती है। अम्बाला हरियाणा से आये डॉ. वीरेन्द्र स्वरूप ने ध्यान के लिये उपयोगी तत्वों का वर्णन करते हुये शुद्ध आहार–विहार के महत्व पर बल दिया। मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसका मन होता है। 'यथा अन्न तथा मन:' के सिद्धान्तों को समझाते हुये गलत कमाई के अन्न के दुष्परिणामों को दृष्टान्त के द्वारा समझाया। शुद्ध अन्न ही मन को एकाग्रता प्रदान करता है।

गोरखपुर से आये डॉ. विजय सिंह ने शैवयोग के माध्यम से बताया कि जीव स्वयं शक्ति का उत्थान नहीं कर पाता है सिद्धयोगी गुरु ही उसके अज्ञान मल को हटाकर योग में आरूढ़ कराते हैं तथा शिवत्व की ओर ले जाते हैं। गुरुदेव शक्तिपात करके कुण्डलिनी का जागरण कर जीव को शिवत्व प्रदान करते हैं। प्रात: काल साढ़े 6 बजे से आठ बजे तक डॉ. वीरेन्द्र स्वरूप के निर्देशन में जीवन तत्व साधन, योगासन तथा कपाल भाति एवं प्राणायाम सिखाये जाते रहे। प्रात: 9 बजे की सामूहिक आरती के पश्चात् गीता के एक अध्याय का पाठ होता था पश्चात उस अध्याय की डॉ. दासलाल जी के द्वारा सरल भाषा में व्याख्या होती थी। गीता के माध्यम से भी योग के सिद्धान्तों को समझाया गया।

इस प्रकार से वाराणसी ध्यान योग आश्रम का यह पाँचदिन का योग सम्मेलन सम्पन्न हुआ। 14 अक्तूबर को दोपहर भण्डारे के साथ ही सम्मेलन का समापन हुआ। सम्मेलन में कछवा से श्री दशरथ तिवारी जी तथा गोवर्धन से मोहन स्वरूप जी की उपस्थिति शिविर की शोभा को बढ़ा रही थी। 15 अक्तूबर को 35–40 साधक वाराणसी से विश्वनाथ तिवारी के आमन्त्रण पर साहिबगंज (बिहार) योग प्रचार कार्यक्रम में आचार्य दासलाल जी के साथ गये और उस सदूर क्षेत्र में 16–17 व 18 अक्तूबर के कार्यक्रम को रोचक बना दिया। धूमधाम से वहाँ का कार्यक्रम सम्पन्न कराकर सभी वाराणसी लौट आये। इस प्रकार से ये दोनों कार्यक्रम बहुत ही सुन्दर ढंग से सम्पन्न हुये। श्री प्रभु जी की कृपा सर्वत्र देखने के लिये मिल रही थी।

परमात्म-सत्ता की व्यापकता

– सुश्री प्रेमवती एम. ए. (दर्शन, हिन्दी)

आधुनिक विज्ञान के युग में प्रथम तो परमात्म सत्ता के अस्तित्व के विषय में ही सन्देह और विश्वास उत्पन्न हो गया है और जो लोग ईश्वर सत्ता को स्वीकार करते हैं वे भी उसकी व्यापकता को हृदय से स्वीकार नहीं करते। कुछ धर्म मतों में तो ईश्वर की व्यापकता को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया जाता है। केवल ईसाई और मुसलमान ही नहीं बल्कि अपने सनातन धर्म–को मानने वालों में भी कुछ सम्प्रदाय इस विचार के उत्पन्न हो गये हैं जो इस बात का जोरदार प्रचार कर रहे हैं कि ईश्वर सर्व व्यापी नहीं है बल्कि माया सर्व व्यापी है। अर्बुद पर्वत स्थित (वर्तमान माउन्ट आबू में) एक विचार–प्रणाली इस प्रकार के प्रबल प्रचार में संलग्न है जिसमें वैदिक धर्म की कई मान्यताओं को जड़ से अस्वीकृत करके अज्ञान घोषित कर दिया गया है। यह संस्था ईश्वरीय प्रदत्त ज्ञान को जिस रूप में प्रस्तुत करती है उसका स्वरूप स्वीकृत मान्यताओं के आमूल परिवर्तन करने पर निर्धारित हुआ है। **"ब्रह्माकुमारी प्रजापति ईश्वरीय विश्वविद्यालय"** नाम से इसकी अनेक शाखायें इस बात का प्रचार करती हैं कि भगवान शिव कहते हैं कि माया सर्वव्यापी है परमात्मा सर्वव्यापी नहीं है। तर्क का आधार लेकर कहा जाता है कि यदि किसी मनुष्य से यह कहा जाय कि तुम्हारा बाप गधे, कुत्ते कीचड़ सब में है तो वह तुरन्त ही कहने वाले की अक्ल ठिकाने लगा देगा पर कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि उस परमात्मा की शान में हम कुछ भी कह डालते हैं। परमात्मा तो आकाश तत्व से ऊपर शान्ति धाम में बिन्दु स्वरूप से शिव नाम से अलग रहता है और सर्वज्ञ होते हुए भी सर्वव्यापी नहीं है।

अब यदि तर्क का ही सहारा लिया जाए तो यह बात कुछ बुद्धि संगत नहीं है कि सर्वज्ञ तत्व सर्वव्यापी न हो। सर्वव्यापकता के नष्ट होते ही सर्वज्ञता भी असम्भव है। जहां पहुंच नहीं होगी वहाँ की बात जानेंगे क्या? और तब तो परमात्मा सीमित हो जायेगा और सीमित होते ही उसकी सर्वशक्तिमत्ता भी कहाँ रह जायगी ? वह तो बस केवल शान्ति धाम में रहने लायक रह जायगा पर बात यह है प्रस्तुत विषय तर्क का न होकर अभ्यान्तरिक एकाग्रता का है। **"ईशावास्यं इदं सर्व यत्किञ्चित् जगत्यां जगत"** के अनुसार जगत में जो कुछ है वह सब परमेश्वर का आवास है। उपनिषद् का यह वाक्य ऋषि की उस अभ्यान्तरिक अनुभूति से उत्पन्न हुआ है जो सुनने भर से नहीं समझी जा सकती और प्रचार मात्र से जिसकी मान्यता हृदयग्राही नहीं हो सकती। इस अनुभूती को स्वयं के हृदय की अनुभूति बनाने के लिए ईश्वर की व्यापकता को अनुभव कर लेने के लिए अभ्यान्तरिक एकाग्रता की उस सीमा की आवश्यकता है जिसको प्राप्त कर के अन्य कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता।

यह ठीक है कि तर्क बुद्धि का अपना स्थान है पर वह ज्ञान एक सीमित ज्ञान है और तर्क की

कसौटी से भी व्यक्ति या शास्त्र का पढ़ासुना मानना केवल एक अन्धविश्वास ही है। केवल मन की एकाग्रता ही एक ऐसी स्थिति है जिसमें शास्त्रों का वास्तविक अर्थ ऋतम्भरा प्रज्ञा में जगमगा उठता है। समस्त संसार ही उस मनुष्य के दृष्टिकोण से दिखाई देता है जो पहाड़ की सबसे ऊँची–चोटी पर खड़ा नीचे की सब चीजों को साफ–साफ देख रहा है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जिनको इस सीमा की एकाग्रता नहीं प्राप्त हुई वे किस किस बात को मानें। इस सीमा की एकाग्रता उपलब्ध होने तक किस मान्यता को हृदय में स्थान दें। तो उत्तर है कि यह भी आस्था का विषय है तर्क का नहीं। कई बात ईश्वर को व्यापक मानने वाले भी चोरी करते पाए जाते हैं। छीना झपटी, रूप अन्याय हिंसा, असत्य दूसरे का स्वत्व हरण सब इसी प्रकार की क्रियाएँ हैं जो ईश्वर के व्यापक स्वप को हृदय वाली कर लेने के उपरान्त होनी ही नहीं चाहिए। पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोग मुख से ईश्वर को सर्वत्र व्यापक मानते हुये भी ऐसी क्रियायें करते हैं। तात्पर्य यह है कि कहने सुनने से कुछ होता नहीं है। मानना पड़ता है। रेखा–गणित के प्रथम पाठ में पढ़ाया जाता है कि बिन्दु की लम्बाई–चौड़ाई नहीं होती। रेखा की चौड़ाई नहीं होती। पर अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाते समय बिन्दु की लम्बाई–चौड़ाई और रेखा की चौड़ाई अंकित करने से विरुद्धाचरण का दोषी हो जाता है। परन्तु यह विरुद्धाचरण ही उच्चतम गणित पढ़ाने के लिए आवश्यक है। तभी विद्यार्थी इस स्वयंसिद्ध सिद्धान्त को हृदयंगम कर पाता है कि वास्तव में बिन्दु लम्बाई–चौड़ाई रहित और रेखा चौड़ाई रहित होती है। उच्चगणित पढ़ते समय इस सिद्धान्त को दृष्टिगत रखना पड़ता ही है, नहीं तो सब ही गलत हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार लौकिक व्यवहार करते समय इस बात को दृष्टिगत रखना पड़ेगा कि ईश्वर सर्वव्यापक है तभी अनेक प्रकार के विकर्मों से बचना सम्भव हो सकेगा। यदि कभी विरुद्धाचरण भी हो तो भी लक्ष्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए ही होना चाहिए जैसे कि रेखा गणित का शिक्षक श्याम पट पर बिन्दु की लम्बाई चौड़ाई बना कर सिद्धान्त को अधिक स्पष्टता ही देने के उद्देश्य से तो विरुद्धाचरण करता है। वैसे मोटी सी बात समझने के लिए यह भी है कि ईश्वर के किसी भी एक गुण को सम्पूर्ण रूप से साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त अन्य गुणों का अलग अलग साक्षात्कार करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस परम पिता की सर्वज्ञता को ही यदि हृदय से स्वीकार कर के उसी में अपनी निष्ठा को दृढ़ करके मन की एकाग्रता से सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर लिया तो यह बात पूछने की गुंजाइश ही नहीं रह जाएगी कि परमेश्वर सर्वव्यापक है या नहीं। फिर जो लोग यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ तो है पर सर्वव्यापी नहीं है, उन्होंने एकाग्रता के किस स्तर पर इस प्रकार की घोषणा की है यह विचारणीय हो जाता है।

' ब्रह्म खल्विदं सर्व ' अर्थात् **' जो कुछ भी यह (संसार) है वह निश्चय ही ब्रह्म है'** इस बात को मन की एकाग्रता द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करके समझने के लिए योग सूत्र कहता है कि यह अनुभूति तीन प्रकार से प्राप्त होती है।

'भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।'

अर्थात् देवताओं (उन व्यक्तियों को जो देहाध्यास से ऊपर उठ चुके हैं) और प्रकृतिलयों

को उन व्यक्तियों को जिन्होंने प्रकृति की सूक्ष्म तन्मात्राओं में संयम करते-करते शरीर परिवर्तन कर लिया है जन्म-सिद्ध ब्रह्मानुभूति हुआ करती है।

'श्रद्धा वीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'

अर्थात् दूसरे लोगों को श्रद्धा से उत्साह से लक्ष्य के स्मरण बने रहने से एकाग्रता और विवेक बुद्धि द्वारा उपाय प्रत्यय से ब्रह्मानुभूति हो जाती है।

अनेक पुण्यों के फलस्वरूप आप्त पुरुषों के प्राप्त हो जाने पर उनकी अनायास कृपा से जो हृदय जगमगा उठा करता है उसमें ब्रह्मानुभूति हो जाती है –

उपर्युक्त तीनों साधनों में से किसी के उपस्थित होने पर जो अनुभूति होती है उसके प्रकाश में एकमात्र परमात्म-तत्त्व की सर्वत्र सत्ता का ही अस्तित्व मात्र रह जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है –

सिया राम-मय सब जग जानी।
करहुं प्रणाम जोर जुग पाणी।।

अर्थात् जब तक ब्रह्मानुभूति न हो तब तक यह मानते हुए कि सब संसार सियाराममय ही है केवल नमस्कार करते चलो।

नमस्कार में बड़ा बल है–

मन्मना भव, मद्भक्तो,
मद्याजी, मांनमस्कुरु।

मेरे जैसा मन वाला बन जा (इतना भी करते न बने तो) मेरा भक्त हो जा यह भी न कर पावे तो मेरे लिए कर्म करने वाला हो (और इतना भी तू न कर सके तो) मुझे नमस्कार कर।

नमस्कार करते-करते से तो बेड़ा पार हुआ जाता है। जगदात्मा प्रतीक्षा करते हैं। **'मामेव ऐष्यसि कौन्तय प्रति जाने प्रियोसिमे'** तू मुझे प्यारा है तू मुझ्को को प्राप्त होगा। और परम पिता को जान भी कौन सकता है? अखिल ब्रह्माण्ड में मनुष्य की सत्ता एक परमाणु जैसी भी नहीं है। उसकी सीमित बुद्धि ईश्वरीय विधान में इतना भी तो महत्त्व नहीं रखती जितना महासागर की एक क्षुद्र तरंग। तरंग का अस्तित्व भी महासागर से अलग किया नहीं जा सकता। ब्रह्मानुभूति से च्युत प्राणी परमात्मा को बुद्धि के द्वारा जान ही नहीं सकता। जब जानेगा तब उसी परमात्मा-सत्ता में अपने को स्थित करके जानेगा। और तब:-

जानत वह जिसे देव जनाई,
जानत तुमहिं तुमहिं हो जाई।

वही जानेगा जिस पर परमात्मा अपने आपको प्रकाशित करना चाहेगा और परमात्मा को जानते ही वह स्वयं परमात्मा स्वरूप हो जायगा। तब उसका दृष्टिकोण संसार के प्रति बिल्कुल बदल जायगा। परमात्मा का सर्वव्यापकत्व उसकी रग-रग में भर जायगा। वह उस सत्ता में स्थित होकर स्वयं अपने को सब में सबको अपने में देखेगा। श्री मद्भगवद्गीता में ऐसे युक्त योगी के

दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है :

"सर्व भूतस्थमात्मानं,
सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा,
सर्वत्र समदर्शिनः।। "

अर्थात् ऐसा योग युक्तात्मा मनुष्य सब को समान दृष्टि से देखता हुआ सब संसार में स्थित अपने आपको और अपनी आत्मा में संसार को स्थित देखता है। और फिर वह चिल्लाता नहीं फिरता कि परमात्मा सर्व व्यापक है या नहीं है। कारण, वह जानता है कि ऐसी बात किसी के कहने से हृदय में नहीं उतारी जा सकती। परन्तु उसके आचरण की मस्ती से ईश्वर की सर्व व्यापक सत्ता की पुष्टि हुआ ही करती है। वह जहाँ जब आवश्यक समझता है ईश्वरीय विभूति को उपस्थित कर देता है और इस प्रकार ईश्वर की सत्ता की व्यापकता आप ही स्पष्ट हो जाती है। ऐसा योगी :–

सुनत न काहू की कही,
कहत न अपनी बात।
नारायण या रूप में,
मगन रहत दिन रात।।

और यह मगनता जब आती है जब वह देखता है –

" मयि एव सर्व इदं प्रोतम् " ?

तब अपने आपको सर्वत्र अनुभव करता हुआ स्वरूप स्थिति में केवल **"अस्मि–अस्मि"** का अनुभव करता हुआ वह अस्मितानुगत समाधि के अच्युत आनन्द में मगन हो जाता है। **"सर्वत्र मैं हूं"** इस अनुभव की मादक स्थिति मगन करने के साथ ही इस प्रकार का आचरण उद्भूति करती रहती है जिससे ईश्वर के व्यापकत्व में ही तो योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिन हो जाता है। सर्वत्र घटपटादि के अन्दर स्वयं को अनुभव करता हुआ और सब में अपने को देखता हुआ वही एक परमात्मा के सर्व व्यापकत्व का निर्णय दे सकता है और तभी उसकी दृष्टि :–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रिय।
युक्त इत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्म कांचनः।।

–गीता

ज्ञान विज्ञान से तृप्त होकर लोहा सोने में बरबरहो जाती है। भक्त–शिरोमणि प्रह्लाद ने तो जलते खम्भे में परमात्म–शक्ति को प्रत्यक्ष स्वीकार करके उसे आलिंगन में बाँध लिया था। उसी बात की मानो–पुष्टि के लिए नृसिंह रूप में प्रकट होकर परमात्म–सत्ता अविचारी के ऊपरी कुपित हो उठी थी। प्रह्लाद ने सर्वत्र परमात्म–सत्ता की व्यापकता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अनेक कष्ट

सह लिए थे और प्रत्युत्तर में वह व्यापक सत्ता उसकी सदैव सहायक ही होती रही थी।

लेकिन परमात्मा के ऊपर निछावर हो तो सही। सम्प्रदाय केवल मत चलाते हैं और प्रचार करते हैं। बुद्धि के बल पर कभी एक विचार तरंग उपस्थित करते हैं कभी दूसरी परन्तु उससे कुछ हाथ नहीं लगता। जो कुछ सन्तोष ऐसे लोगों को प्राप्त भी होता है वह केवल अपने मनोबल, विश्वास, और भगवान पर आस्था रखने से।

रही भावना जाकी जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

परन्तु भावना के आधार पर प्रभु मूरत देखना और बात है और प्रभु में अपने को खोकर फिर तत्वतः उसको जानकर और जानकर वही हो जाना बिल्कुल दूसरी बात है। तभी तो जगत आत्मा की वाणी गुंजार रही है।

मया ततमिदं सर्व,
जगदव्यक्त मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि,
न चाहं तेष्ववास्थितः।।

परन्तु उपर्युक्त वाणी का भी कई बार इस प्रकार का अर्थ लगा लिया जाता है जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। "**न चाहंतेष्ववास्थितः**" का प्रायः यह अर्थ लगा लिया जाता है कि भगवान कहते हैं कि "**यह सारा जगत मुझ अव्यक्त मूर्ति से उत्पन्न हुआ है सब वस्तुयें मुझी से उत्पन्न हुई हैं पर मैं उनमें नहीं हूं।**" इस अनर्थ से परमात्मा की सर्व व्यापकता पर आक्षेप करने वाले यदि समझदारी से इस श्लोक का भावार्थ ग्रहण करने की चेष्टा करेगे तो "**न चाहं तेष्ववास्थितः**" का अर्थ यही होगा कि परमात्म–सत्ता किसी एक वस्तु में सीमित करके नहीं रखी जा सकती। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है किन्हीं वस्तुओं में सीमित होकर नहीं रहता इसी प्रकार परमात्म–सत्ता सर्वत्र व्याप्त है न कि "**सर्व भूतों**" में सीमित होकर बैठ गया है।

इसी भाव को प्रकट करते हुए विकर्म करने वालों को ललकारते हुए एक उर्दू शायर ने कहा है।

साकी शराब पीने दे काबे में बैठकर।
या वह जगह बता दे जहां खुदा नहीं।।

नानक, कबीर, तुलसीदास, मीरा, सूरदास आदि सिद्ध कवियों के जितने भी पद वाणी या आप्त वाक्य है सभी में यह भाव समाया है कि परमात्म–सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है–

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रकट होइ मैं जाना।।

परमात्मा तो सब जगह है ही। चाहिए केवल ऐसा साधक जो उस सत्ता को प्रकट करने का पुरुषार्थ करने का दम रखता हो।

योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी ऐसे पुरुषार्थियों की सफलता के एकमात्र आधार अपनी करुणा का उन्मुक्त प्रसार किए हैं। इनकी शरण में आकर गोस्वामी तुलसीदास की चौपाई मुखर हो उठती है–

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिन हरि कृपा मिलें नहीं सन्ता।
श्री मद्भगवद्गीता में कहा है –
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति तेज्ञानंज्ञानस्तत्वदर्शिनः।।

अर्थात् **"उस परमात्म–सत्ता को जानने के लिए जब तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों को प्रणाम, सेवा और प्रश्नों से सन्तुष्ट करेगा तो वे तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे।"** तत्त्वदर्शी ज्ञानी सेवा भी क्या लेगा बहुत सूक्ष्म। और प्रश्न तथा परिप्रश्न केवल अधिकारी ही कर सकता है और अधिकारी को नम्र होकर तत्त्वदर्शी की शरण में जाना ही चाहिए।

अधिकारी पाठक, आइए और योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी की करुणा प्राप्त कीजिए।

काल करे सो आज कर,
आज करे सो अब्ब।
पल में परलै होयगी,
बहुरि करेगा कब्ब।।

अनन्त श्री गुरुदेव अपने प्रवचनों, आचरण और सत्संग के द्वारा वातावरण की अलक्ष्य शुद्धि कर रहे हैं, उसमें रहिए। उनसे सीखिए और जन्ममरण जंजाल से निकलकर उस परमात्म–तत्त्व का साक्षात्कार कीजिए जो आज तक केवल मात्र अपने पुरुषार्थ से अप्राप्त रहा है।

आयु–नाश के छः दोष

अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, स्वार्थ, और मित्र–द्रोह यह छः तीखी तलवारें देहधारियों की आयु को काटती हैं। जो संसार में अधिक जीना चाहते हैं उन्हें इन छः दोषों से बचना चाहिए।

– महात्मा विदुर

कर्म-फल-त्याग

– स्व. श्री साने गुरु

गीता ने कर्म–फल–त्याग सिखाया है। अपनी रुचि का सेवा–कार्य हमें ज्ञान विज्ञानपूर्वक निष्ठा से, मन से तथा अपने वर्ण के अनुसार करना चाहिए। उस कर्म को उत्कृष्टता के साथ पूरा करने के लिए जीवन को संयत करना चाहिये। आहार–विहार नियमित बनाना चाहिए शरीर और मन प्रसन्न व नीरोगी रखना चाहिए। इस प्रकार जीवन की सार्थकता का लाभ लेना चाहिए। सेवा–कर्म करते–करते उसे उत्तरोत्तर अधिक तन्मयता के साथ करते–करते एक दिन सारी सृष्टि के साथ स्नेह जोड़ना है, मन का भेदातीत बनाकर केवल चिन्मय साम्राज्य में ही रमना है।

लेकिन इस सब के साधने के लिए एक और चीज की जरूरत है, एक और दृष्टि की आवश्यकता है। वह दृष्टि है फल की आशा नहीं रखना। कर्म में इतने तल्लीन हो जाना चाहिए कि फल का विचार करने का समय ही न मिले। जीवन कर्म मय ही हो जाय। जनाबाई कहती थीं – " **प्रभु ही खाना प्रभु ही पीना**"। प्रभु से यहाँ मतलब है अपने ध्येय से, अपने सेवा–कर्म से। इस सेवा कर्म को ही खाना है,सेवा–कर्म को ही पीना है। इसका मतलब यह है कि खाते हुए भी हमें कर्म का विचार ही और पीते हुए भी कर्म का विचार। सोते हुए भी कर्म का चिन्तन हो। गाँधीजी ने पहले एक बार कहा था कि मुझे हरिजनों की सेवा के ही स्वप्न दिखाई देते हैं ऐसा दिखाई देता है कि मन्दिर खुल रहे हैं। स्वामी रामतीर्थ को स्वप्न में कठिन प्रश्नों के हल दिखाई देते थे। अर्जुन के बारे में भी ऐसी ही बात कही जाती है। श्री कृष्ण का अर्जुन पर अधिक प्रेम देखकर उद्धव उससे ईर्ष्या रखता था। यह बात श्री कृष्ण के ध्यान में आई। श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा–"**उद्धव जाओ और यह देख आओ कि इस समय अर्जुन क्या कर रहा है।**" उद्धव चले। अर्जुन अपने कमरे में गहरी नींद में सोया था; लेकिन वहाँ 'कृष्ण–कृष्ण' की मधुर ध्वनि सुनाई देती थी। वह ध्वनि निकल कहाँ से आती है, इसकी खोज उद्धव करने लगा। वह अर्जुन के पास गया उसे क्या दिखाई दिया ? अर्जुन के रोम–रोम से 'कृष्ण–कृष्ण' की ध्वनि रही थी। अर्जुन का जीवन कृष्ण के प्रेम से ओत–प्रोत था। नानक ने कहा है–

'हे ईश्वर आपका स्मरण श्वासोच्छ्वास के साथ–साथ होने दो, भगवान के स्मरण के बिना जीवन असह्य होने दो। उनका स्मरण ही मानो जीवन है। उनका विस्मरण मानो मृत्यु। उनका स्मरण मानो सारे सुख और उनका विस्मरण मानो सारे दुःख।

" विपद विस्मरणं विष्णोः सपन्नारायणस्मृतिः। "

और भगवान् का स्मरण ही मानो ध्येय का स्मरण है, स्वकर्म का, स्वधर्म का स्मरण।

हममें जिसके लिए जीने और मरने की भावना पैदा होती है वही हमारे लिए ईश्वर स्वरूप है। वही हमारा ईश्वर है। और उसके चिन्तन में हमेशा निमग्न रहना ही परम सिद्धि।

मनुष्य स्वकर्म में इतना निमग्न कब हो सकेगा? जब वह उस कर्म के फल को भूल जायगा। छोटा बच्चा आम की गुठली को जमीन में गाड़ता है। दूसरे दिन वह उसे फिर खोदकर देखता है। उसे यह देखने की बड़ी उत्कण्ठा रहती है कि उस में अंकुर फूटा या नहीं; लेकिन यदि वह गुठली बारबार खोदकर देखी गई तो उसमें कभी अंकुर नहीं फूट सकेगा। उसमें कभी भी बौर न आ सकेंगे। रसवाले फल नहीं लग सकेंगे। इसके विरूद्ध यदि उस गुठली को प्रतिदिन पानी पिलाया गया, उसमें खाद दिया गया, उसके पत्तों को बकरी से बचाने के लिए उसके आस–पास काँटे की बाड़ लगा दी और इस प्रकार यदि कोई आदमी उस आम को उगाने के काम में लग गया तो एक दिन उसमें रस वाले फल आये बिना न रहेंगे।

यदि गहराई से देखा जाय तो मालूम होगा कि मनुष्य का सच्चा आनन्द फल में नहीं कर्म में है। अपने हाथ–पैर, अपना हृदय अपनी बुद्धि के सेवा–कर्म में मग्न हो जाने में ही आनन्द है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने जिस दिन मध्य रात्रि के समय अपना बड़ा इतिहास लिखकर समाप्त किया उस समय वह रोया। बारह बज गये थे। रात्रि का सन्नाटा छाया हुआ था। उसने अन्तिम वाक्य लिख डाले। गिबन 25 वर्षो से यह काम करता आ रहा था। इन दिनों उसका प्रत्येक क्षण आनन्द से व्यतीत हुआ; लेकिन उस इतिहास के समाप्त होते ही उसे बुरा लगा। वह बोला– **" अब कल क्या करूँगा? अब कल आनन्द कहाँ रहेगा? अब क्या पढ़ूँ? क्या लिखूँ?"** इस कर्म के करने में ही उसे आनन्द था।

बच्चे खेलते हैं। खेलते समय उनके मन में यह विचार नहीं होते कि इससे हमे इतना व्यायाम होगा हमारे शरीर सुधरेंगे। यदि बच्चे इस विचार से खेलें तो उनको खेल का आनन्द नहीं मिल सकेगा। क्या अट्या–पाट्या खेलते हुए खिलाड़ी के मन में यह विचार रहता है कि मेरी जांघों का व्यायाम हो रहा है? इस विचार से तो वे घेरा नहीं तोड़ सकते। बच्चे खेल के लिए खेलते हैं। उससे उन्हें जो व्यायाम का फल मिलता है खेलते समय उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं होता।

इसका यह मतलब नहीं कि खिलाड़ी को व्यायाम का फल नहीं मिलता। उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वह प्रसन्न रहता है। उसका मन प्रफुल्ल रहता है। उसे कितने फल मिलते हैं। खेलने जाने के पूर्व उसके मन में व्यायाम का विचार रहता है। वह सोचता है कि यदि मैं रोज खेलूँ तो मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। पहले मन में फल का विचार रहता है। लेकिन जहाँ कर्म शुरू हुआ कि फल को भूल जाना चाहिए। तब फिर वह कर्म ही धर्म प्रतीत होना चाहिए। वह साधन ही साध्य रूप में प्रतीत होना चाहिए। प्रत्येक प्रयत्न मानो कर्म सिद्धि है प्रत्येक दौड़ मानो विजय है। यह अनुभूति होनी चाहिए कि हमारा प्रत्येक कदम ध्येय प्राप्ति के लिए है। प्रयत्न ही मानो सफलता है।

बेलदार हाथ में हथौड़ा लेकर पत्थर तोड़ता रहता है मान लीजिये यदि पत्थर दस चोट में नहीं टूटा और 11 वी चोट में टूट गया तो क्या वे पहली 10 चोटें व्यर्थ गई ? प्रत्येक चोट पत्थर के अणुओं के ऊपर आघात कर रही थी प्रत्येक चोट ध्येय की ओर ले जा रही थी।

कर्म उत्कृष्ट करने के लिए ही कर्म–फल–त्याग की जरूरत होती है। फल का सतत् चिन्तन करने की अपेक्षा जो कर्म मे ही रम जाता है उसे अधिक बड़ा फल मिलता है। क्योंकि पद–पद पर फल का चिन्तन करते रहने वाले का बहुत सा समय चिन्तन में ही चला जाता है। जो किसान पद–पद पर यह चिन्ता करता हुआ बैठा रहे कि यदि वर्षा न हुई तो, अच्छा भाव नहीं हुआ तो, चूहे लग गये तो और फल की चिन्ता करता रहे तो उसके मन में अनन्त आशा नहीं रह सकेगी उसके कर्म उत्कृष्ट नहीं हो सकेंगे। इसके विरूद्ध जो किसान कर्म में रंग गया है खाद डालता है, सिंचाई करता है निराई करता है और दूसरी बात सोचने का जिसके पास समय ही नहीं है इसमे कोई शंका नही कि उसे अधिक उत्कृष्ट फल मिलेगा।

कमल के फूलों को तो आप जानते ही हैं। उसके बारे में रामकृष्ण परमहंस एक बात हमेशा कहते थे कमल विकास चाहता है। रात दिन कीचड़ में पैर गड़ाकर वह इसके लिए प्रयत्न करता रहता है। वह सूर्य की ओर मुँह करके खिलने का प्रयत्न करता है। उस कमल की साधना एक सी अखण्ड चलती रहती है। वह अपना विकसित होना भूल जाता है। मानो फल को ही भूल जाता है। वह ठंड धूप हवा वर्षा कीचड़ आदि में रहकर ही प्रयत्न करता रहता है। लेकिन एक दिन आता है जब कि वह कमल अच्छी तरह खिलता है उसे सूर्य की किरण चूमती है हवा झुलाती है गीत सुनाती है। कमल को इस बात का खयाल ही नहीं रहता है कि मैं खिल रहा हूँ। उसे मालूम ही नहीं होगा कि मैं सुगन्ध से पवित्रता से पराग से भर रहा हूँ। अन्त में भ्रमर गुंजार करता हुआ आता है। वह कमल की प्रदक्षिणा करता है और कमल के अन्तरंग में प्रवेश करके कहता है–पवित्र कमल तू खिल चुका है। तुझमें कितनी सुगन्ध है तेरा कैसा सुन्दर रंग है तुझमें कितना मीठा रस है ?

मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात होनी चाहिए। उसे फल को भूल जाना चाहिए। यदि फल उसके चरणों पर आकर गिर जाय तो भी उसे उसपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। ध्रुव के सामने प्रत्यक्ष भगवान आकर खड़े हो गए फिर भी उनकी आखें बन्द ही रहीं। वह तो नारायण के चिन्तन में तल्लीन हो गया था। साधना में इतनी समरसता का होना महत्व की बात है।

भारतीय संस्कृति साधना सिखाती है।

अधीर मत बनो, उल्लू मत बनो, फल के लिए लालायित मत रहो, विह्वल मत बनो। महान फल चुटकी मारते ही नहीं मिलते। उसके लिए अनन्त साधना और अखण्ड अविरत श्रम की आवश्यकता रहती है। बरगद का बड़ा पेड़ दो दिन में इतना नही बढ़ता। मैथी की सब्जी दो दिनों में उग आती है और चार दिन में सूख जाती है लेकिन एक बार बरगद का पेड़ जम जाता है तो फिर हजारों लोगों को छाया देता है। उसकी शाखायें आकाश को छूने लगती हैं। उसका सिर

आकाश से लग जाता है और जड़ पाताल गंगा से भेंट करती है। लेकिन यह स्पृहणीय और महान् प्रसार इस महान् वैभव को प्राप्त करने के लिए पत्थर कंकर में जड़ें जमाने के लिए उस वटवृक्ष को कितने वर्षों तक प्रयत्न करना पड़ता है।

विनता और कद्रू की कहानी तो सुप्रसिद्ध है। कद्रू के यहाँ जब एक हजार सर्प के बच्चे हुए तो विनता अधीर हो गई। उसने एक अण्डा फोड़ा लेकिन वह परिपक्व नहीं हुआ था। उसमें से लंगड़ा लूला अरुण निकला। विनता दुखी हो गई। उसे अपनी जल्दबाजी का इनाम मिल गया लेकिन अपने अनुभव से वह होशियार बन गई। उसने दूसरा अण्डा नहीं फोड़ा। वह एक हजार वर्ष तक ठहरी रही और एक हजार वर्ष के बाद पक्षिराज गरुड़ बाहर निकले और वह भगवान विष्णु के वाहन बन गए।

यदि अपने कर्म के कमजोर फल नहीं चाहते हो और ऐसे भव्य दिव्य फल चाहते हो तो उसके लिए सैकड़ों वर्षों तक परिश्रम करना पड़ेगा–साधना करनी पड़ेगी। आज भारतीय संस्कृति के उपासक साधना भूल गए हैं। वे चुटकी में फल चाहते हैं। वे जल्दी ही स्वतन्त्रता चाहते हैं लेकिन वे लाखों ग्रामों में जाकर वर्षों तक साधना करना नहीं चाहते। क्रान्ति क्षणभर में नहीं होती। राष्ट्रीय शिक्षा के आचार्य विजापुरकर ने एक बार कहा–अंग्रेजों को राज्य प्राप्त करने में 150 वर्ष लग गये। अब उनको निकालने में 300 वर्ष लगेंगे इसी विचार से हम को हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

कर्म फल त्यागी मनुष्य कभी निराश नहीं होता। क्योंकि फल पर उनकी दृष्टि ही नहीं होती। जो निरन्तर फल का चिन्तन करता रहेगा वह दुखी होगा निराश होगा। भगवान बुद्ध ने एक एक गुण प्राप्त करने के लिए एक–एक जन्म लिया था। जीवन की पूर्णता प्राप्त करने में उन्हें सैकड़ों जन्म लेने पड़े।

भगवान् की प्राप्ति के लिए कितनी ही साधना आप क्यों न करें वह थोड़ी ही है। ध्येय की प्राप्ति के लिए ऐसी ही अमर आशा होनी चाहिए। प्रयत्नों से, कष्टों और परिश्रम से घबराना नहीं चाहिए। उत्तरोत्तर अधिक उत्कृष्ट कर्म होने चाहिए। जो हजारों वर्ष तक परिश्रम करने के लिए तैयार है उसे इसी घड़ी फल मिल जायगा।

लेकिन अपने मन का सन्तोष का फल तो हमेशा मिलता रहता है। **" मैं अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर रहा हूँ, आवश्यकता से अधिक परिश्रम कर रहा हूँ, " मेरे इस आन्तरिक समाधान को कौन छीन सकेगा ?** हमें यह शरीर, देह बुद्धि और हृदय मिला है। ईश्वर ने हम यह पूँजी पहले से ही दे रखी है। हमें यह जो मिला है उससे ऋण मुक्त होने के लिए सेवा करनी चाहिए। समाज हमें बहुत कुछ देता है। सृष्टि भी हमको कुछ दे रही है। उसके ऋण से उऋण होने के लिए काम में जुटे रहना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

और यदि हमें फल न मिले तो भी समाज अमर है व्यक्ति चला जाता है, लेकिन समाज चिरतर है। काम करने वाले जाते हैं लेकिन काम तो शेष रह ही जाता है। उस काम को पूरा करने

के लिए समाज है ही। मेरे शेष बचे हुए काम को कौन अपने हाथ में लेगा? मेरे हाथों लगाये वृक्ष को कौन पानी पिलायेगा ? मेरे श्रम का फल तो किसी न किसी को मिलेगा ही और वह जिसको भी मिलेगा वह तो मेरा अपना ही है। उसमें और मुझमें कहाँ भेद है ?

हमारी संस्कृति में अदृष्ट फलों की एक मधुर कल्पना है। उथली बुद्धि के लोग इस कल्पना का मजाक उड़ाते हैं; लेकिन जैसे–जैसे इस कल्पना का विचार करते हैं वैसे 2 आनन्द होता है। तुम्हारे प्रयत्नों के फल मिलेंगे ; लेकिन वह तुमको प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देंगे। तुम्हारी कल्पना के दिव्य चक्षुओं से ही वह दिखाई देंगे। न दिखने वाला फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। हिन्दुस्तान के स्वराज के लिए कितने बड़े बड़े व्यक्ति जन्म भर कष्ट सहते रहे लेकिन फल अब दिखाई दे रहा है। मुझे यह देवों की प्रियभूमि स्वतन्त्र और मुक्त दिखाई दे रही है। मुझे ऐसा हिन्दुस्तान दिखाई दे रहा है जिसमें रोग–अकाल नहीं हैं, अज्ञान नहीं है, रूढ़ि कहीं नहीं है, झगड़े नहीं है, टण्टे नहीं है, द्वेष नहीं है, मत्सर नहीं है सारी जातियाँ और धर्म एक–दूसरे से हिल–मिलकर रहते हैं। सबके पास अनाज है, वस्त्र है, रहने के लिए घरबार है।" न्यायमूर्ति को अपनी विशाल दृष्टि से, शास्त्रपूत और श्रद्धा पूत दृष्टि से व अदृश्य फल दिखाई दे रहे थे लोगों को अपने श्रम का अवश्य फल मिलेगा, उनका श्रम व्यर्थ नहीं जायगा। संसार में कोई बात व्यर्थ नहीं जाती।

अदृश्य फल का एक और भी अर्थ है। नदी बहती है। कितने ही वृक्षों और बेलों को वह जीवन प्रदान करती है; लेकिन वह यह बात नहीं जानती। उसके उदर में कितने ही जलचर समाये हुए हैं लेकिन उसे इसकी जानकारी ही नहीं। उसे इस बात की भी जानकारी नहीं होती कि उसने कितनी भूमि उपजाऊ और समृद्ध की है। उसे यह बात भी मालूम नहीं होती कि उसके कारण कितने कुओं में पानी आया है। नदी बहती है। रात दिन काम करती रहती है। वह नमी पैदा करती है। लेकिन उसे क्या मालूम कि यह नमी कहाँ, किसे और कितनी मिलती है। इस फल के बारे में उसे क्या मालूम ! यह उसे दिखाई ही नहीं देता। लेकिन यह फल उसके नाम पर जमा है। यह उसके कर्मरूपी वृक्ष में लगे हुए अनन्त फल हैं।

शिवलीन अवधूत

(श्री गुरुदेव के सौजन्य से)

ऋषिकेश से लगभग नौ मील ऊपर पुण्यतोया भागीरथी के पावन किनारे पर ब्रह्मपुरी नाम का पवित्र वन है। अपनी उत्तराखंड की यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व हमारे सद्गुरूदेव योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ने कुछ समय इस पवित्र वन में निवास किया था। उन्हीं दिनों अवधूत योगी श्री कृपालानन्द जी भी इस वन में रहा करते थे अखण्ड मंडलाकार तेजयुक्त परम सिद्ध श्री प्रभुजी की वास्तविकता को वह पहचानते थे, अतः उनके प्रति कृपालानन्द जी के हृदय में स्वाभाविक ही अत्यन्त सम्मान एवं प्रेम का भाव उदय हो गया था। प्रायः वह श्री प्रभु जी के पास आकर ज्ञान-चर्चा किया करते थे।

आनन्दकन्द जगदात्मा भगवान् श्री कृष्ण जी ने भगवद्गीता में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार कहा है-

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा

कूटस्थो विजितेन्द्रियः।

युक्त इत्युच्यते योगी

समलोष्टाश्म कांचनः।।

श्री भ. गी. अ. 6-8

अर्थात् जिसका आत्मा ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण है और जो बिल्कुल विकार रहित स्थिति में पहुँच गया है और सब प्रकार से इन्द्रिय जयी है-ऐसा युक्त योगी कहलाता है। "**ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा**" पद का तात्पर्य है कि प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर नियंत्रण प्राप्त करना अर्थात् संयम के बल से सकल सिद्धियों को प्राप्त करना और पूर्ण आत्म-साक्षात्कार करना। हमारे पूर्व आचार्यों ने योग विद्या की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह शब्द कहे हैं -

यस्मिन् ज्ञाते सर्व मिदं ज्ञातंभवित।

अर्थात् जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है। इस महती विद्या के सकल ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये योगाचार्यों ने दो मार्गों का वर्णन किया है। उनमें से एक मार्ग

औपनिषादिक सिद्धान्त का है जिसका वर्णन भगवान् श्री कृष्णा ने गीता में इस प्रकार किया है –

इन्द्रियाणि पराण्याहु

इन्द्रियेभ्यो परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धि-

र्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

– श्री भ. गी. अ. 3/42

अर्थात् योगी पहले अपनी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे, फिर मन का करे, उसके बाद बुद्धि का साक्षात्कार और तदनन्तर आत्म-साक्षात्कार करे। किन्तु इस मार्ग में थोड़ी सी कठिनता है। क्योंकि इन्द्रियों का सूक्ष्म धर्म समझना कठिन है। और आत्म-साक्षात्कार तो उससे भी बहुत आगे की वस्तु है। दूसरा मार्ग सर्व साधारण के कल्याणार्थ हमारे आचार्यों ने वह बताया जिस पर चलने से हर व्यक्ति अपना कल्याण कर ही सकता है। इस मार्ग का संकेत योगाचार्य भगवान् पतंजलि महाराज ने **"बीतराग विषयं वा चित्तम्"** कह कर किया है। अर्थात वीतराग पुरुषों को हम अपना ध्येय बना कर उनके अहंकार में अपना अहंकार विलीन कर दें तो थोड़े समय में ही समाधि लाभ कर सकते हैं, उस स्थिति में उनकी उपार्जित सिद्धियाँ हमारी अपनी होगी और कालान्तर में उनके स्वरूप में लय हो कर हम कैवल्य-भाव को भी अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

अवधूत श्री कृपालानन्द जी इस दूसरे मार्ग के ही अनुयायी थे। उनके ध्येय थे भगवान् सदा शिव, अतः वह शिवलीन रहा करते थे। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार अवधूत श्री कृपालानन्द जी अपने मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार को भगवान सदा शिव के मन, चित्त बुद्धि और अहंकार में विलीन किये रहा करते थे। भगवान शिव में लीनता के कारण अवधूत कृपालानन्द जी को भगवान सदा शिव की शक्तियाँ हर समय प्राप्त थीं। युक्त योगी होने के कारण उस वन में रहने वाले अन्य सभी महात्मा उनका अत्यन्त सम्मान करते थे। वह पर विरक्त-भाव से अवधूत वृत्ति में विचरा करते थे।

उन्हीं दिनों मसूरी के वनों में घूमते हुए एक अंग्रेज दम्पत्ति आए। वहाँ एक साधना लीन महात्मा के दर्शन होने से उस अंग्रेज स्त्री के हृदय में भी वैसी साधना कर ईश्वर प्राप्ति की इच्छा जागृत हो गई। उस स्त्री ने महात्मा जी के चरण पकड़कर उस मार्ग का उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा जी योगबल से समझ गये कि संस्कार महात्मा कृपालानन्द जी से है। अतः उन्होंने

उस अंग्रेज महिला को ब्रह्मपुरी के वन में जाने की आज्ञा देते हुए कहा-योगिराज कृपालानन्द जी के द्वारा ही तुम्हें यह अन्तर्निधि प्राप्त होगी। उनके द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त होगा। वह अंग्रेजी स्त्री बड़ी दृढ़ लगन वाली थी। अतः पति को वापिस करके खोजते-खोजते ब्रह्मपुरी के वन में जा पहुँची और यत्र-तत्र कृपालानन्द जी का अन्वेषण करने लगी। इसी प्रकार रात्रि हो गई, तब भयभीत होकर उसने भगवान से कातर-स्वर में प्रार्थना की। अकस्मात् कृपालानन्द जी नग्न-रूप में विचरण करते हुए उधर ही आ निकले। देखते ही उस देवी ने अवधूत जी के चरण-कमलों को पकड़ लिया। पहिले तो उन्होंने उसे हतोत्साहित करने का प्रयास किया। अन्त में उसकी दृढ़ लगन देखकर उसे योगाभ्यास की विधि बताई और वहीं पर कुटी बना कर रहने की आज्ञा दे दी। वह देवी अपने गुरुदेव की आज्ञा का अक्षरशः पालन करती और कन्दमूल खाकर अपनी साधना में तत्पर रहती। परिणामतः उसमें कई चमत्कारिक शक्तियों का प्राकट्य हुआ।

जिन दिनों आनन्दकन्द प्रभु श्री रामलालजी महाराज वहाँ पहुँचे थे, तब यह देवी भी वहाँ निवास किया करती थी। इसके अतिरिक्त हीरागिरि नाम के एक अन्य महात्मा से भी उनका परिचय हुआ। परिचय बढ़ने पर श्री प्रभु जी और वह महात्मा साथ-साथ गंगा-स्नान करके कन्दमूल खोदलाते और साथ ही बना लिया करते थे, कभी-कभी कृपालानन्द जी भी उस ओर आ जाते थे। महात्मा हीरागिरि अवधूत कृपालानन्द जी के प्रति कुछ उपेक्षा का भाव रक्खा करता था। अवधूत उसके मनोभाव समझ गये और उन्होंने शिक्षा देने का विचार किया।

अवधूत श्री कृपालानन्द जी प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में ही पवित्र गंगा की धारा में स्नान करके गंगा तट पर ही समाधिस्थ होकर बैठ जाया करते थे। दोपहर बाद लगभग दो बजे के उपरान्त वह समाधि से उठते थे। उठने के पश्चात् उस वन में जो कोई भी साधु कन्दमूल बनाकर तैयार किया हुआ दिव्यदृष्टि से दिखाई देता उसके पास मनोजविता से तत्काल जा पहुँचते और उससे आधा भोजन लेकर खा लिया करते थे। वह स्वयं कन्दमूल न बना कर नित्य इसी प्रकार किया करते थे। ब्रह्मपुरी के वन में रहने वाला कोई भी महात्मा उनके इस नैत्यिक कार्यक्रम के कारण कृपालानन्द जी से रुष्ट नहीं होता था क्योंकि सभी को उनकी दिव्य-स्थिति का ज्ञान था। सब जानते थे कि यह सब प्रकार से परिपूर्ण भगवान सदा शिव के रूप ही हैं। अतः जिसके यहाँ जाकर भी वह भोजन करते वही अपना अहोभाग्य समझता और उनके पुनरागमन की प्रतीक्षा किया करता। परन्तु महात्मा हीरागिरि उनके इस व्यवहार से बहुत ही चिढ़ता था, इसी कारण

उनके प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए कहता–ठीक है कृपालानन्द जी युक्त योगी हैं और हम सब युंजन योगी हैं। लेकिन कालान्तर में हम भी युक्तता को प्राप्त होंगे ही। कृपालानन्द भी हमारे बराबर का भाई ही तो है।

योगिराज कृपालानन्द जी ने उसके मनोभावों को जान लिया था अत: अब भोजन के लिये अन्य किसी महात्मा के यहाँ न जाकर वह नित्य ही महात्मा हीरागिरि के स्थान पर पहुँचने लगे। दो-तीन दिन तो वह चुप रहा और मन मारकर कृपालानन्द जी को भोजन के लिये कन्दूल देता रहा। परन्तु चौथे दिन उसे कृपालानन्द को भोजन के ठीक तैयार हो जाने पर आया हुआ देखकर बड़ी खीझ हुई। जैसे ही कृपालानन्द जी ने अपना भाग माँगा, वैसे ही वह क्रोध में भर कर बोला-क्यों देदें तुझे कन्दमूल ? क्या तू खोद कर रख गया था ? जंगल में पड़ा है कहीं से भी खोदले और बना कर खाले। किन्तु अवधूत कृपालानन्द जी ने उसके इन क्रोध युक्त वचनों को कोई महत्त्व नहीं दिया और चुपचाप उसके बनाये हुए कन्दमूलों में से अपना भाग स्वयं ही लेकर खागये और हँसते हुए चल दिये। हीरागिरि बहुत चिढ़ता रहा और कहता रहा देखो, महात्मा होकर भी क्या आदत डाली है ? आया और खा गया जैसे इसके माँ–बाप खोद कर और बनाकर इसके लिए ही रख जाते हों। हीरागिरि ने अगले दिन इस मुसीबत से बचने के लिए भोजन के समय से बहुत पहले ही कन्दमूल बना डाले और श्री प्रभुजी से बोला – उस दुष्ट कृपालानन्द जी के आने से पूर्व ही खा लेते हैं। फिर अवधूत आकर खाली पात्र देख कर स्वयं ही लौट जायेगा। अभी उसने भोजन परोसा ही था कि सामने से मुस्कराते हुए कृपालानन्द जी आते दिखाई पड़े। आते ही बोले–भाई हीरागिरि, बड़ा अच्छा किया जो तुमने जल्दी ही कन्दमूल तैयार कर लिये आज तो जल्दी ही भूख लग आई है। विवश होकर महात्मा हीरागिरि को नित्य की भाँति तीन भाग करने पड़े, और कृपालानन्द जी तृप्त होकर चल दिये।

महात्मा हीरागिहरि बड़ी उलझन में था। कैसे इस अवधूत से पिंड छूटे ? उसे एक उपाय सूझा और अगले दिन उसने भोजन के समय तक कन्दमूल खोदे ही नहीं। उसका विचार था भोजन के समय अवधूत आएगा तो कह दूँगा – भाई यदि तुझे कन्दमूल खाने हों तो खोद ला और बना कर खाले। मुझे तो खाना नहीं था, इसीलिये बनाया भी नहीं है। परन्तु आश्चर्य की बात कि उस दिन भोजन के समय योगी कृपालानन्द आए ही नहीं। जब भोजन का समय निकले दो घंटे हो चुके, तब हीरागिरि वन में जाकर कन्दमूल खोद लाया और बनाने लगा। मन में वह प्रसन्न था

और नित्य ही इसी उपाय से कृपालानन्द जी से बचने की बात सोच चुका था। कन्दमूल बन कर तैयार हुआ ही था कि कृपालानन्द जी आ पहुँचे और हंसकर बोले-भाई हीरागिरि तू हमारा बड़ा ख्याल रखता है। तुझे कैसे पता चल गया कि आज हमें भूख नहीं लगी है इसलिये हम देरी से खायेंगे। वैसे तो आज बिना खाये ही रहना पड़ता, लेकिन जब तूने इस समय बना ही रक्खा है, तो ला-थोड़ा सा खा लेते हैं। मन-ही-मन हीरागिरि को बेहद क्रोध आया और बोला-तुम कुछ समाधि-अमाधि नहीं लगाते केवल भोजन की समाधि लगाते हो इस समय कहाँ कन्दमूल मिलेगा-बस यही देखा करते हो। इसके बाद हीरागिरि नित्य स्थान-परिवर्तन कर-कर के कन्दमूल तैयार करने लगा। किन्तु श्री कृपालानन्द जी की दिव्य-दृष्टि से कोई भी स्थान बच न सका और वह अपनी मनोजविता से प्रत्येक स्थान पर पहुँच कर हीरागिरि के यहाँ ही नित्य भोजन करते थे।

महात्मा हीरागिरि के हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो गई और उसने एक दिन चुपचाप धतूरे के सेर भर पत्तों का साग बना डाला और मन में कहने लगा-आज महात्मा को इस प्रकार आने का मजा मिल जायगा। उधर श्री प्रभुजी ने भी अपने कन्दमूल भूनकर तैयार किए हुए थे। ठीक समय पर कृपालानन्द जी आये। श्री प्रभुजी ने अपने कन्दमूलों के तीन भाग करके एक भाग कृपालानन्द जी के सम्मुख रक्खा। हीरागिरि ने धतूरे का सारा साग कृपालानन्द जी के सम्मुख रख दिया तब अवधूत बोले-क्यों रे हीरागिरि मरने को हम ही रहे हैं क्या? हम तुम दोनें ही क्यों न मरें? इस साग को तू भी खा और हम भी खाते हैं। प्रभुजी इस रहस्य से अनभिज्ञ थे, अतः आश्चर्य में भर कर कहने लगे-महाराज, क्या हुआ? ऐसे बचन क्यों बोल रहे हैं? तब कृपालानन्द बोले-आज यह हमें मारने के लिये धतूरे के पत्तों का साग बना कर लाया है। श्री प्रभुजी ने कहा- आप उसे मत खाइए, बस केवल मेरे वाले कन्दमूल ग्रहण कीजिए। परन्तु अवधूत कहने लगे- बेचारे ने बड़े प्रेम से बनाया है। हम इसे अवश्य खायेंगे। ऐसा कह उस साग के तीन भाग करके एक प्रभुजी के सामने भी रख दिया और कहा- तुम इसे निश्शंक खाओ, हम भी खाते हैं। परन्तु फल यह दुष्ट हीरागिरि ही भोगेगा। तीनों ने वह साग खाया किन्तु श्री प्रभु जी और कृपालानन्द पर धतूरे के विष का कोई प्रभाव नहीं हुआ। परन्तु थोड़ा सा साग खाते ही हीरागिरि की दशा बिगड़ने लगी और थोड़ी सी देर में विष के प्रभाव से वह मूर्छित हो गया।

(क्रमशः)

याद रखो

जब तक शरीर स्वस्थ है, भोग भोगने की शक्ति है, भोगों में मन लगा है, मृत्यु सामने दिखायी नहीं देती, तब तक अवश्य ही बहुतों को लिखी बातें अनावश्यक और कड़वी लग सकती हैं; परंतु एक दिन सभी को इन बातों पर विचार करना पड़ता है और उस समय पहले की भूल का पछतावा बहुत ही भयानक होता है। पहले से ही विचार करके चेत जाओ तो अच्छी बात है।

धन, यौवन, रूप, पद, सम्मान, शक्ति, विद्या, वाग्मिता- सब के सब मौत का विकराल मुँह देखते ही विध्वस्त हो जायेंगे। इनसे कुछ भी नहीं होगा। अतएव इनकी प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य मत बनाओ और प्राप्त होने पर तनिक भी अभिमान मत करो। यह चार दिनों की चाँदनी जरूर ही नष्ट हो जायेगी।

शास्त्र, संत, महात्मा और भक्तों की वाणी का अनुशीलन और अनुसरण कर भगवान् पर विश्वास करो; भगवान् के महत्व को समझो और भगवान् के प्रेम को पाने के लिए भगवान् की शरण हो जाओ।

• • •

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

____

____

☐☐☐☐☐☐

आसीनो दूरं व्रजति शयनो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।

(कठोपनिषद् 1/21)

परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मो के आश्रय हैं। एक ही समय में उनमें विरुद्ध धर्मो की लीला होती है। इसी से वे एक ही साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान बताये गये हैं। वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाम में विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर से दूर चले जाते हैं। परमधाम में निवास करने वाले पार्षद भक्तों को दृष्टि में वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र सब रूपों में नित्य अपनी महिमा में स्थित हैं।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा